

पल्लविनी

दीर्घातन्त्र



ग्रन्थ संख्या— ७६
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

तृतीय संस्करण
सन्वत्, २००४
मू० ५)

मुद्रक
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद



श्री प्रकाशवती

श्री प्रकाशवती को



श्री सुमित्रानन्दन पन्त
(१९२७)

एक दृष्टिकोण

'पल्लविनी' पहले-पहल मन् १९४० में प्रकाशित की गई थी। इसमें श्री सुमित्रानन्दन पंत की प्रथम छः रचनाओं अर्थात् 'वीणा', 'प्रस्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगांत' की चुनी हुई कविताएँ संगृहीत की गई थीं। मन् १९३९ में पंत जी की 'युगवाणी' प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्हीं के शब्दों में उन्होंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया था। यहाँ गद्य का अर्थ गद्य नहीं था, गद्य प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ था—और कवि को नए प्रतीक बनाने का अधिकार है—पंत जी का तात्पर्य था गद्य से—युग की समस्याओं से, युग की उलझनों से, यद्यपि 'युगवाणी' में युग का गद्य ही नहीं है, बहुत कुछ जीवन का पद्य भी है; आप मुझे क्षमा करें, मैं भी पद्य को प्रतीक के समान इस्तेमाल कर रहा हूँ और इससे मेरा मतलब है जीवन की सुंदरता से, जीवन के रस और रंग से। प्रसिद्ध है पुरानी आदतें जग मुश्किल से छूटती हैं, फिर भी 'युगवाणी' की रचनाओं के विषय, दृष्टिकोण, अभिव्यंजना और शैली में पहले की रचनाओं से इतना अधिक अंतर था कि पारखियों को महज ही ऐसा आभास हुआ कि इस कृति के साथ पंत जी के काव्य जीवन का एक नया अध्याय खुल रहा है। इसके पूर्व अपनी रचना का 'युगांत' नाम देकर मानो स्वयं उन्होंने इस बात का संकेत कर दिया था। इतना ही नहीं, उनके 'दो शब्द' में उन्होंने स्वीकार भी किया था कि 'युगांत' में 'पल्लव' की कोमलकांत पदावली का अभाव है और अब वे एक नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं। संभवतः इन्हीं कारणों से इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनकी 'युगांत' तक की

रचनाओं से एक ऐसा संकलन उपस्थित किया जाय जिससे उनके काव्य जीवन के प्रथम चरण का विकास-क्रम जानने और समझने में सुविधा हो सके। इस चरण में पंत जी की कल्पना ने जिस भाव प्रदेश में विचरण किया है उसकी तुलना यदि पर्वत से करें तो 'पल्लव' को उसकी सबसे ऊँची चोटी, मैं सबसे रम्य स्थली नहीं कह रहा हूँ, माननी होगी। संकलन के 'पल्लविनी' नाम देने में शायद यही धारणा काम कर रही थी।

संकलन स्वयं पंत जी ने किया था, कुछ रचनाओं में ज़रूरत समझकर उन्होंने कुछ काट-छोट भी कर दी थी। रचनाओं का क्रम समयानुसार न रखकर विषयानुसार रक्खा गया था। संग्रह ने एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति की और काव्य रसिकों ने उसे बहुत पसंद किया। इसका दूसरा संस्करण सन् '४५ में प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रण मात्र था।

इस तीसरे संस्करण में रचनाएँ तो सब वे ही रक्खी गई हैं जो इसके पहले के संस्करणों में थीं, परंतु उनके क्रम में भारी परिवर्तन कर दिया गया है। पंत जी ने अब यह अनुभव किया है कि जो संग्रह विशेषकर उनके काव्य जीवन का क्रमिक विकास दिखलाने के उद्देश से तैयार किया गया है उसमें रचनाओं के कालानुक्रम की अवहेलना नहीं की जा सकती। फलस्वरूप 'पल्लविनी' के इस संस्करण में, दो-एक को छोड़कर शेष सब कविताएँ रचनाक्रम में रक्खी गई हैं, परंतु समय की सीमा के भीतर भी, रचनाओं के स्थान में थोड़ा-सा उलट-फेर करके पंत जी ने उन्हें इस प्रकार रक्खा है कि उनमें एक प्रकार का अद्भुत सामंजस्य आ गया है। 'पल्लविनी' का यह रूप उसके पिछले रूप से कितना मधुर और निखरा हुआ है इसे वे ही जान सकेंगे जो उसके

पहले संस्करणों से इसकी तुलना करेंगे। एक बात और हुई है दो-तीन कविताओं की काट-छाँट में कुछ ऐसे पद छोड़ दिए गए थे जो अपनी सरलता और सरसता के कारण मुझे बहुत प्रिय थे। वे प्रायः लोगों की ज़बान पर थे और लेखों तथा आलोचनाओं में उद्धृत भी किए जाते थे। मेरी प्रार्थना पर ऐसे कतिपय पदों को इस संस्करण में स्थान देकर उन्होंने मुझे बाधित किया है। मुझे विश्वास है कि ये पद औरों को भी रुचिकर प्रतीत होंगे।

‘पल्लविनी’ के इस नवीन रूप के साथ प्रकाशक की इच्छा है कि एक भूमिका भी जोड़ दी जाय। पिछले संस्करणों में पंत जी लिखित गिनती की केवल छः पंक्तियों का एक विज्ञापन मात्र था। उन्होंने यह काम मुझे सौंपा है। और इसकी गंभीरता और जिम्मेदारी के साथ ही साथ अपनी अल्पज्ञता और अयोग्यता जानते हुए भी जो मैंने यह कार्य भार अपने ऊपर ले लिया है उसका मुख्य कारण केवल यह है कि मुझे पंत जी के बहुत समीप आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस प्रकार मुझे उन्हें बहुत निकट से देखने का अवसर मिला है। मैं एक लंबे अरसे से उनकी कविताओं से उनके व्यक्तित्व को और उनके जीवन से उनकी रचनाओं को समझने का प्रयत्न करता रहा हूँ और एक बात जो मैं सब से पहले कह देना चाहता हूँ वह यह है कि जो उनकी कविता है वही उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है। उनकी कविताओं के विषय में कुछ कहने का मेरा केवल इतना ही अधिकार है कि मैंने उन्हें उनके रचयिता के जीवन के प्रकाश में देखा है। अन्य कवियों के विषय में यह बात लागू है या नहीं, किंतु पंत जी के विषय में तो यह बात बिलकुल ठीक है कि बिना उनके व्यक्तित्व को समझे उनकी रचनाएँ नहीं समझी जा सकती।

उनकी रचनाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है; खेद है उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली चीजें नहीं के बराबर हैं। इस छोटी-सी भूमिका में, जिसे मैं एक दृष्टिकोण कहना अधिक पसंद करूँगा, मैं इस तरह के किसी प्रयास की बात भी नहीं सोच सकता। फिर भी प्रयत्न करूँगा कि उनके जीवन-मंदिर का एक छोटा-सा वातायन खोल सकूँ। इतना भी कर सका तो अपने को अमफल नहीं समझूँगा।

यह सोचने के पहले कि मैं इस भूमिका में क्या लिखूँ, मैंने इसपर विचार किया है कि मैं किनके लिए यह भूमिका लिख रहा हूँ। यद्यपि 'पल्लविनी' का संकलन पंत जी की कविता के प्रथम चरण का विकास दिखाने के लिए किया गया है, तथापि उनकी कविता में परिचय कराने के लिए यह बहुत अच्छी पुस्तक सिद्ध होगी और मेरा विश्वास है प्रायः लोग इसका यही उपयोग करेंगे भी। इसलिए मेरे सामने इस समय वे ही लोग हैं जो पंत जी की कविता से प्रथम परिचय करने जा रहे हैं। पंत जी को समझने में अगर मैं उन्हें ठीक दिशा में लगा सका—और इसमें मेरी सीमा भी है, जिसे मैं ठीक समझता हूँ—तो मेरा ध्येय पूरा हो जायगा। और लोगों के काम की कुछ बात इसमें मिल जाय तो मैं अपने को धन्य समझूँगा।

पंत जी के बारे में जो कुछ लिखा अथवा कहा गया है उस सबका विश्लेषण न तो मेरे लिए सुलभ है और न उपयोगी। परंतु जो कुछ भी उनके विषय में लिखा अथवा कहा गया है उसमें एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया है और प्रायः पाठक रचनाओं को स्वयं पढ़कर अपनी सम्मति निर्धारित करने के पहले इस वातावरण में कुछ अनोखी धारणाएँ लेकर आता है। समालोचना हमारे साहित्य का शायद सबसे कमजोर अंग है। प्रायः जो एक कहता है दूसरा उसे ले उड़ता

है और लोग भी ऐसे सहज-विश्वासी हैं कि जो कुछ कहा जाता है उसे ही ठीक मान लेते हैं। सम्मतियों के इस वातावरण में पंत जी के विषय में कुछ बातें स्वतः सिद्ध और सर्वमान्य हो गई हैं और मेरी राय में इनमें तथ्य बहुत कम है। मैं अपने इन थोड़े से शब्दों में इस वातावरण को साक करना चाहता हूँ।

आज से लगभग दस बरस पहले पंत जी की कविता पढ़नेवालों से कम और उनकी रचनाओं को बगैर पढ़े उनके विषय में बात करने वालों से ज्यादा, मैं यह बात सुना करता था कि पंत जी छायावादी हैं और छायावाद पर किसी 'कवि-क्रूर' ने यह फतवा दे दिया था कि वह समझ में आने की चीज नहीं है और उसके अनुयायियों ने इसका इतना प्रचार किया था कि किसी रचना को छायावादी कह देने का मतलब था कि वह बिलकुल बे सिर-पैर की है और उसपर और कुछ कहना ही संभव नहीं—समझ से जो बाहर है। अस्पष्टता, कठिनाता, निरर्थकता, सब का सम्मिलित नाम था छायावाद। इसी अर्थ में मुहाविरे की तरह भी इसका प्रयोग मैंने देखा है। अब, जो हिंदी कविता में कुछ रुचि रखता है और कविता पर अपनी राय देता है, पंत जी की चर्चा चलने पर पहला वाक्य यही कहता है कि वे प्रगतिवादी हो गए हैं और प्रगतिवादी प्रगतिवाद से क्या समझते हैं यह तो वे जानें। साधारण लोगों में प्रगतिवाद का जो अर्थ लिया जाता है वह यह है कि वह साम्यवादी दल की राजनीति का अनुयायी है, मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धांतों का पोषक है और साहित्य को प्रचार की मैशीनरी समझता है। और मेरी तुच्छ सम्मति यह है कि न पंत जी को तभी ठीक समझा जा रहा था और न अभी ठीक समझा जा रहा है।

युग, युग की घटनाओं, युग की विचार धाराओं का जो प्रभाव कला कृतियों पर पड़ता है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी एक महत्ता रखता है। मंच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व में कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है। फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित करके ही कला पर प्रभाव दिखा सकता है। युग के प्रति किसी विशेष व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसका अनुमान कर लेना सद्ज नहीं है। कला और साहित्य के इतिहास में ऐसी कृतियों की कमी नहीं है जिनपर युग की स्वीकृत अथवा प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं है। युग साधारण व्यक्तियों को प्रभावित करता है लेकिन विशेष व्यक्तियों में प्रभावित भी होता है। जहाँ तक हिंदी साहित्य और साहित्य में जीवन के लिए प्रेरणा प्राप्त करनेवालों का संबंध है, मैं यह बात निःसंकोच कह सकता हूँ कि पंत जी केवल ऐसे व्यक्तियों में ही नहीं हैं जो युग की शक्तिमान प्रवृत्तियों के प्रति निजी प्रतिक्रिया रखते हैं; बल्कि वे उनमें भी हैं जो युग को प्रभावित करते हैं। जिस युग में पंत जी ने अपनी रचनाएँ की हैं उसे समालोचकों ने छायावाद का युग कहा है। कुछ आलोचकों ने युग का ऐसा आतंक खड़ा किया है कि हमें यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि चूँकि पंत जी ने छायावाद काल में लिखा है, इसलिए वे छायावादी हैं। और चूँकि अब कुछ समय से कुछ लोगों ने ढोल बजाकर आधुनिक युग को प्रगतिवादी युग घोषित कर दिया है इसलिए आज वे जो लिख रहे हैं उसमें वे प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों अथवा प्रेरणाओं से प्रभावित हैं। छायावाद के प्रचलित अर्थ से मेरे लिए उनकी कविता बहुत दिन पहले से मुक्त हो गई थी। लेकिन वर्षों मैंने इस बात पर अचरज किया है कि छायावाद का एक

सांप्रदायिक रूढ़ अर्थ भी देकर पंत जी को लोग छायावादी क्यों कहते हैं। समालोचक गण प्रायः इस सीमित अर्थ में उसे रहस्यवाद कहने लगें हैं, परंतु साधारण जनता में दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। उनमें मुझ न तो कबीर की ही आवृत्ति मिली, न जायसी की और न रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही। और आज जब मैं यह देखता हूँ कि उन्हें प्रगतिवादी घोषित करके किस प्रकार एक विशेष विचारधारा के लोग अपने साहित्यिक मोर्चे को मजबूत बना रहे हैं तो मैं सोचता हूँ कि दुनिया में साहित्यिक शोषण भी किस हद तक जा सकता है। मेरी समझ में तो इस प्रकार का शोषण आर्थिक शोषण से अधिक भयंकर और दुष्परिणामकारी है। खैर, कहने का मतलब यह है कि छायावाद के युग में भी वे पंत थे और प्रगतिवाद के युग में भी वे पंत हैं। वे छायावादी युग की उपज से अधिक उसके निर्माता रहे हैं और वे जैसे प्रगतिशील हैं उनको उसी रूप में स्वीकार करने के लिए प्रगतिवाद को किसी संकुचित दल विशेष के हाथों की कठपुतली होने से इन्कार करना पड़ेगा। पंत जी का अपना छायावाद भी था, अपना प्रगतिवाद भी है और इसका कारण यह है कि उनका अपना व्यक्तित्व है जो किसी वाद अथवा युग के साँचे में बैठाया नहीं जा सकता। पंत जी की कविताओं को ठीक-ठीक समझने के लिए मेरे विचार से यह सबसे जरूरी बात है कि उन्हें किसी वाद के अंतर्गत रखकर न देखा जाय। संभव हो सकता है कि समालोचकों का अपने अध्ययन के किसी दर्जे पर पहुँचकर उनकी रचनाओं की साम्य-संगति किसी युग-वाद के साथ बैठानी पड़े। परंतु, ऐसे पाठकों से जो काव्य के सहज आनंद से आकर्षित होकर उनकी ओर जाते हैं, मैं यह कह देना चाहता हूँ कि पंत जी को वे ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे

अगर वे, वादों के फेर में न पड़कर, उन्हें एक ऐसा संवेदन, मनन और चिंतनशील कवि समझें जो अपने और प्रकृति के, मानव जीवन और मानव समाज के, अपने देश, अपने युग और अपनी संस्कृति के तथा इन सब में परिव्याप्त और इन सब के ऊपर जो सत्ता है उसके प्रति चिर जागरूक है। अपने इस कथन की व्याख्या आगे चलकर उनकी एक-एक रचना को लेकर मैं करना चाहता हूँ। परंतु इसके पहले उनकी भाषा के विषय में जो आंतियाँ पैली हैं उन्हें दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है प्रायः लोगों में यह जनश्रुति प्रचलित है कि पंत जी की भाषा कठिन होती है। यह जनश्रुति नहीं तो क्या है कि प्रायः लोगों ने बिना उनकी कविताओं को पढ़े यह मान लिया है कि वे कठिन लिखते हैं और इसी कारण वे उनकी रचनाओं को समझना अपने वश के बाहर की बात समझते हैं। तमाशा तो यह है कि ऐसे लोगों में कुछ इस तरह के भी लोग हैं जिन्होंने अपनी तमाम उम्र उर्दू साहित्य को पढ़ने में लगाई है और केवल हिंदी वर्णमाला जानने के कारण यह उम्मीद करते हैं कि जो कुछ वे अच्छर और मात्रा जोड़कर पढ़ लेंगे वह सब उनकी समझ में आ जायगा। साहित्य का आनंद लेने के लिए भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है। यह तो प्रारंभिक बात हुई। इसके पश्चात् साहित्य की वृत्ति पहचाननी और उसके साथ संवेदना रखनी पड़ती है। तभी कोई साहित्य अपने रस की गाँठ खोलता है। यदि आप हिंदी में वही सब पाने की आशा करके आते हैं जो आप उर्दू में पाते रहे हैं तो मैं आप से यही कहूँगा, दूसरा दरवाजा देखिए। जो केवल दूसरों से सुनकर पंत जी की भाषा को कठिन मान बैठे हैं, उनसे मैं कहूँगा वे स्वयं उनकी कविताओं को पढ़ें। उनका आधा भ्रम

ऐसा करते ही दूर हो जायगा। और आधे के लिए हमें अपने साहित्य और समय की वृत्ति पहचाननी पड़ेगी।

पंत जी की भाषा की कठिनता के संबंध में मैंने उनसे भी सुना है जो हिंदी के ज्ञाता हैं, साहित्यानुरागी हैं और पंत जी की कविता के प्रेमी हैं। पंत जी की भाषा जैसी है उसके लिए केवल पंत जी ही उत्तरदायी नहीं हैं। यह शिकायत पंत जी के सभी समकालीन कवियों की भाषा के संबंध में कम-ब्यादा रही है। इसके लिए हिंदी का एक युग ही जवाबदेह है। जानबूझकर कोई अपनी भाषा को कठिन नहीं बनाना चाहता। जैसे पंत जी की कविता उनके जीवन का सहज उद्गार है वैसे ही उनकी भाषा उनके भावों का स्वाभाविक परिधान है। न तो उन्होंने कविता लिखने के लिए कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा। मैं तो समझता हूँ कि उनको अपनी साहित्यिक परंपरा से जैसी भाषा मिली थी उसका उन्होंने सब से अच्छा उपयोग किया है। इतना ही नहीं उसकी उपयोगिता को उन्होंने कई गुना बढ़ा भी दिया है।

भारतेंदु की मृत्यु सन् १८८५ में हुई थी; उनके लिए गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की ब्रज भाषा थी। पर भारतेंदु ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए यह असंभव था कि उनका ध्यान इस विपर्यय की ओर न जाय। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उनके दिमाग में यह बात तो आई थी कि हिंदी गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए पर जब उन्होंने इसे कार्यरूप में परिणत करना चाहा तो साहित्यिक परंपरा के अभाव में, ब्रज भाषा में अति सरस छंदों की रचना करनेवाले और उर्दू में भी 'रसा' के तखल्लुस से अच्छे-खासे शेर कहनेवाले भारतेंदु जी, गिनती की तुकबंदियाँ, पहेलियाँ, मुकरियाँ

और 'चूरन का लटका' भर लिखकर रह गए थे। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जिन लेखकों ने गद्य और पद्य की भाषा एक बनाने का प्रयत्न किया था उन्होंने पद्य को केवल गद्यमय कर दिया, कविता तो शायद ही किसी ने लिखी हो। इसी भाषा को पंत जी को काव्यमय बनाने का काम करना पड़ा। उन्होंने १९२४ में 'उच्छ्वास' ऐसी कविता उपस्थित कर दी। इतना कवित्व इसके पूर्व कभी खड़ी बोली के साँचे में नहीं ढला था। और उसकी भाषा के संबंध में पंडित शिवाधार पांडेय ने फरवरी, १९२२ की 'सरस्वती' में 'पावम ऋतु थी...' आदि पंक्तियों को उद्धृत करके लिखा था, '... भूधर राट के इस वर्णन में अक्षर-अक्षर अपने स्थान में अनिमेष खड़ा हुआ है—टस से मस नहीं हो सकता।' पंत जी के विषय में उन्होंने लिखा था, '...भाषा को वह भाव से बजाता है। संगीत को उँगलियों पर नचाता है। शब्दों को सूँघ-सूँघ कर मन माना मधु चूसता है।' फिर भी जो पद्य में गद्य ही देखने के अभ्यासी थे उनके लिए काव्य की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना और लाक्षणिकता ने भाषा के अतिरिक्त एक दूसरी कठिनाता सामने रख दी। पढ़नेवालों ने मारा दोष भाषा के ही माथे मढ़ दिया। उन्होंने समझा मारा दोष संस्कृतमयी पदावली का है।

पर अब देखना यह है कि खड़ी बोली के लिए सूरत क्या थी। ब्रज भाषा और अवधी की तरफ से वह मुँह मोड़ चुकी थी। खड़ी बोली का जन्म उर्दू को देवनागरी अक्षरों में लिखने के लिए नहीं हुआ था। उर्दू से अगर हमारे देश की संस्कृति अभिव्यक्ति पा सकती तो हिंदी का पुनरुत्थान ही न होता। उर्दू एक ओर हाली की ज़बान पर चढ़कर उस साम्प्रदायिकता की ओर जा रही थी जिसकी चरम सीमा इक़बाल में पहुँची और दूसरी ओर वह फारसी साहित्य की पुरानी परंपरा से

आप हुए मकतल, मैखाना, आशिक, माशूक का पहाड़ा पढ़ रही थी। जिस समय भारतेंदु यह लिख रहे थे कि 'भापा भई उर्दू जग की' उस समय भी उसकी व्यापकता की अवहेलना करके जो हिंदी उठी उसका एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कारण था। कहने का मतलब यह है कि खड़ी बोली उर्दू की ओर भी नहीं झुक सकती थी। ऐसी परिस्थिति में सिवा संस्कृत की ओर जाने के दूसरा चारा नहीं था। प्रयोग बंगला में हो चुका था। माइकेल मधुसूदन दत्त और रवि बाबू बंगला को संस्कृत से अनुप्राणित करके उसे शत-शत भाव विचारों की वाहिनी सिद्ध कर चुके थे। शरच्चंद्र ऐसे उपन्यासकार तक इस विचार के थे कि रवि बाबू ने संस्कृत की भरमार करके बंगला को चौपट कर दिया है। बंगला के अध्ययन से भी जो खड़ी बोली के कवियों ने लिया वह संस्कृत की ही देन थी। खड़ी बोली संस्कृत पर निर्भर होने के लिए विवश थी और सचमुच पंत जी की विवशता खड़ी बोली की विवशता थी। इस विवशता को भी जो उन्होंने सुंदरता का रूप दिया यह उनकी कलात्मकता थी। उन्होंने कोष खोल कर संस्कृत शब्दों को उधार नहीं लिया। पांडेय जी के शब्दों में उन्होंने संस्कृत के विस्मृत शब्दों को भावों से ठोक बजाकर लिया है। सुरुचि से मूँध-मूँधकर लिया है। कम से कम 'युगांत' तक संस्कृत शब्दों को लेने में उन्होंने बड़ी कलाप्रियता दिखलाई है। ज्यादा उदाहरण देने का स्थान नहीं है। 'युगांत' से ही दो दे रहा हूँ। पंक्ति है—'द्रुत भरं जगत के जीर्ण पत्र'। 'द्रुत' में जैसे पत्ता टूटकर गिरना ही चाहता है। इसी प्रकार पंक्ति है—'गा कोकिल बरसा पावक कण'। 'पावक कण' में दोनों 'क' के लड़ने से ऐसा लगता है जैसे आग अपने आप फूटकर भभकने लगी है। 'जल्दी' और 'चिंगारी' शब्द से यह प्रभाव उत्पन्न करना

असंभव है। 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' में आए संस्कृत शब्दों को लीजिए, उनके स्थान पर दूसरा शब्द रखकर देखिए, पंक्ति का जादू गायब हो जायगा। यों तो पंत जी के समकालीन सब कवियों ने संस्कृत पदावली का अनुसरण किया है, फिर भी पंत जी ने उन्हें चुनने में जितनी कलामय सतर्कता बरती है उतनी किसी अन्य ने नहीं। कहीं उसने रूप उपस्थित किया है तो कहीं उसकी ध्वनि से पंक्ति संगीतमय हो गई है और कहीं उसने परंपरा से संबद्ध भावों के तारों को झनझना दिया है। खड़ी बोली की व्यंजना-सामर्थ्य बढ़ाने की कम से कम यह एक दिशा तो थी ही और इसपर पंत जी इसे काफी दूर तक ले गए हैं।

पंत जी की कुछ व्यक्तिगत परिस्थितियों को भी नहीं भूलना चाहिए। वे 'पहाड़ी कवि' हैं और उनकी मातृभाषा पहाड़ी है। आज भी उन्हें इस बात को कहने में संकोच नहीं है कि हिंदी मेरी मातृभाषा नहीं है, गोकि प्रत्येक पहाड़ी की शिक्षा हिंदी से ही प्रारंभ होती है। हमारे नगरों में उर्दू का प्रचार कई कारणों से बहुत रहा है, परंतु पहाड़ी भाषा अब भी उर्दू के प्रभाव से मुक्त है। उसमें प्रायः संस्कृत के शब्द ही रूप बदलकर मौजूद हैं और आवश्यकता पड़ने पर वह उर्दू के बजाय संस्कृत की ही ओर मुकती है। दूसरे पंत जी ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन लड़कपन से ही किया है और उसके सौंदर्य पर मुग्ध हैं। बँगला भी उन्होंने काफी पढ़ी है और यद्यपि उसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है, उन्होंने उससे केवल इतना सीखा है कि बँगला किस प्रकार संस्कृत के शब्दों को पचाकर अपने अंदर शक्ति, रूप-रंग भर लेती है। उर्दू से वे अनभिज्ञ हैं, पर इसमें संदेह है कि वे उससे अभिज्ञ होकर भी उसके प्रवाह में बह सकते। कारण, हिंदी की सामयिक वृत्ति ही दूसरी ओर थी और कितने ही

लेखक उर्दू से पूर्ण परिचित होकर भी उससे हिंदी को अच्छूता रख रहे थे। शायद हिंदी के व्यक्तित्व की स्थापना के काल में यही प्रवृत्ति अधिक उपयुक्त और लाभदायक थी। भाषा का संबंध केवल ऊपरी नहीं होता। हिंदी के कवि जो कहना चाहते थे शायद वह किसी और शब्दावली से कहा ही नहीं जा सकता था।

अंत में एक बात मैं कहना चाहूँगा। पंत जी की कठिनता शब्दों की कठिनता नहीं है। और अगर हो भी तो उसका हल सरल है। उनकी कठिनता है उनकी नवीन अभिव्यंजना की, नवीन विचार-धारा की, नवीन चिंतन-दर्शन की। उनकी अभिव्यंजना का सौंदर्य पिछली पीढ़ी के लोगों ने नहीं देखा था, पर आज हम सब देख रहे हैं। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी नहीं देख सके थे, पंडित रामचंद्र शुक्ल ने देखा है। हिंदी के व्यंजना-विकास और पंत जी के मानसिक विकास में होड़ सी लगी है, वे इतनी जल्दी आगे बढ़ रहे हैं कि भाषा उनका साथ नहीं दे पाती है। उनकी 'युगवाणी' लोगों की समझ में इसलिए नहीं, नहीं आ रही है कि उसके शब्द कठिन हैं, बल्कि इसलिए कि हिंदी पाठक उनकी विचार धारा से बिल्कुल अपरिचित हैं। मुझे भय है कि आगे की रचनाओं में भाषा उनके चिंतन-दर्शन का साथ नहीं दे सकेगी। उनकी आगामी रचनाओं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' का शब्दार्थ जानकर भी बहुत संभव है उनकी चिंतन धारा लोगों के लिए अगम्य ही सिद्ध हो। हिंदी को जन्मते ही, विश्व के नव जागरण में भारत की आत्मा को, जो युगों से रूढ़ियों के दुर्दम तम में गड़ी हुई थी, व्यक्त और मुखरित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण भार उठाना पड़ रहा है। उसके कंधे अभी कमजोर हैं, परंतु वह पीछे नहीं हटेगी और अपने ध्येय के अनुरूप अपने को सुगठित करेगी। पंत जी की वाणी जहाँ दुरुह और

कठिन है वहाँ भी वह यही स्वस्थ आश्वासन देती सी प्रतीत होती है ।
 पंत जी की कविता में मानो स्वयं हिंदी इस प्रयास में है कि वह जग
 और जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म और गंभीर से गंभीर अनुभूतियों और
 विचारों को अपने पंखों पर लेकर सहज ही उड़ सके । 'वाणी' को
 संबोधित करके उन्होंने 'श्राम्या' की एक कविता में कहा है,

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
 शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक शब्द,
 ज्योतिष कर जन मन के जीवन का अधकार,
 तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
 वाणी मेरी.....

मैंने ऊपर लिखा है कि पंत जी ने न तो कविता लिखने के लिए
 कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा । आप एक बार
 उनकी भावना अथवा विचार धारा से सहानुभूति स्थापित कर लें, फिर
 आप देखेंगे कि भाषा आपके रास्ते में कोई रुकावट नहीं उपस्थित
 करती । जिस प्रकार उनकी कविता का आनंद रस उनके शब्दों के ऊपर
 होकर छलका करता है, मैंने अक्सर उनके पाठकों से यह सुना है कि
 जहाँ कहीं उनकी कविता समझ में भी नहीं आती उसको पढ़ने अथवा
 सुनने में एक प्रकार का आनंद जरूर आता है, उसी प्रकार उनकी
 विचार धारा, उनके आदर्शों और उनके स्वप्नों को समझ लेने पर अर्थ
 अपने आप ही उनकी पंक्तियों के ऊपर छलकता सा आपको प्रतीत
 होगा । अब उनकी रचनाओं की चर्चा करके मैं उनके इसी भाव जगत
 की ओर थोड़ा सा संकेत करना चाहता हूँ ।

पंत जी जन्मजात कवि हैं, उन्हें देखकर अक्सर मैंने अपने से पूछा
 है कि यदि वे कवि न होते तो और क्या हो सकते थे और हमेशा

मेरे मन ने यही कहा है कि वे कवि छोड़कर कुछ और नहीं हो सकते थे। अपने समय और परिवार के वातावरण से प्रेरणा पाकर उन्होंने लड़कपन से ही कविता लिखनी आरंभ कर दी थी। १९१८ से उन्होंने जो कुछ लिखा है वह समय-समय पर संग्रह रूप में प्रकाशित होता रहा है। उनके कहानी संग्रह को छोड़ दे, और उनके नाटक 'ज्योत्स्ना' को भावना प्रधान मान लें तो अब तक उनकी कविताओं की आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'वीणा' में सन् १९१८-१९ की रचनाएँ हैं। 'प्र'थि' गीति-पूर्ण खंड काव्य है और यह १९२० में लिखी गई थी। 'परुलव' एक प्रकार का संकलन था और उसमें सन् १९१८ से १९२५ तक की प्रत्येक वर्ष की दो दो तीन तीन कृतियाँ रख दी गई थीं। यद्यपि संख्या में तीन चौथाई और आकार में इससे कहीं अधिक कविताएँ १९२० के पश्चात् की थीं। इसी प्रकार 'गुंजन' में १९१९ से १९३२ तक की रचनाएँ थीं, गोकि ज्यादातर चीजें १९२५ के बाद की थीं। 'ज्योत्स्ना' यों तो कहने को नाटक है पर उसके अनेक मधुर गीतों के कारण हम उसे काव्य संग्रह ही मान लेते हैं। इसके गीतों को मैं पंत जी के सर्वोत्तम गीतों में मानता हूँ परंतु साथ ही मेरी यह भी राय है कि इनको इनके वातावरण से अलग कर लेने पर—जैसा कि इस संग्रह में किया गया है—इनका आधा सौंदर्य नष्ट हो जाता है। इसकी रचना सन् १९३३ में हुई थी। 'युगांत' में सन् १९३५-३६ की रचनाएँ हैं। 'युगवाणी' में सन् १९३६ से १९३९ तक की, और 'ग्राम्या' में १९३९-४० में लिखी हुई कविताएँ संगृहीत की गई हैं। इनके अतिरिक्त पंत जी की दो और रचनाएँ तैयार हैं। ये हैं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। ये दोनों १९४६-४७ की कृतियाँ हैं। 'स्वर्ण किरण' शीघ्र प्रकाशित होनेवाली है। इसे मैंने प्रूफ से पढ़ लिया है और

‘स्वर्ण धूलि’ को मैं पांडुलिपि में पढ़ चुका हूँ। यह भी शीघ्र ही प्रेम में दी जा रही है।

पंत जी की रचना उनके जीवन विकास की प्रतिच्छाया है और उनका जीवन विकास, जैसा कि प्रायः सभी विकासवान व्यक्तियों का होता है, इतना क्रमबद्ध है कि यह कहना कठिन है कि इस स्थान से अमुक प्रवृत्ति समाप्त होती है और अमुक आरंभ होती है। उनकी अंतिम रचनाओं में भी कोई ऐसी बात नहीं है जो बीज रूप से उनकी पहली रचना में मौजूद न हो, और उनकी पहली रचना में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनके चिह्न उनकी अंतिम रचनाओं में भी, चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में क्यों न हों, पाए जा सकते हैं। जिस तरह यह जानते हुए भी कि न एक दिन में मनुष्य बालक से युवा होता है और न युवा से प्रौढ़, हम जीवन अवधि को बाल्यावस्था, युवावस्था आदि में बाँटकर उसके विकास को व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार पंत जी की रचनाओं की प्रगति दिखलाने के लिए हम उन्हें तीन चरणों में विभक्त कर सकते हैं। कविताओं के विषय को थोड़ी देर के लिए मन से हटाकर अगर केवल उनकी शैली पर ध्यान दें तो पहला चरण ‘वीणा’ से आरंभ होकर ‘युगान्त’ पर समाप्त होता है। दूसरे चरण में ‘युगवाणी’ और ‘ग्राम्या’ आँगी और तीसरे में ‘स्वर्ण किरण’ और ‘स्वर्ण धूलि’। मैंने ऊपर लिखा है कि पंत जी संवेदन, मनन और चिंतनशील कवि हैं। अपने काव्य जीवन के प्रथम काल में वे प्रधानतया संवेदनशील कवि हैं। ‘युगवाणी’ और ‘ग्राम्या’ में वे मननशील हो गए हैं। ‘स्वर्ण किरण’ और ‘स्वर्ण धूलि’ में मुख्यतया वे चिंतन-दर्शन के कवि हैं। इसी को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि ‘वीणा’ से ‘युगान्त’ तक प्रधानतया भावनाओं के, ‘युगवाणी’ और ‘ग्राम्या’ में बुद्धि अथवा

विचारों के तथा अंतिम दो रचनाओं में आत्म-दर्शन के कवि हैं। संवेदनशील होना कवि का प्रथम गुण है, और यह संवेदनशीलता उनके मनन और चिंतन काल में भी उनका साथ नहीं छोड़ती यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से मनन काल में चिंतन काल की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचे और इस काल की रचनाओं में 'युगवाणी' में इसका स्थान मुझे सब से नीचे प्रतीत होता है।

'आधुनिक कवि' की भूमिका में पंत जी ने स्वयं लिखा है कि 'मैं कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सब से बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।' आगे चलकर उन्होंने कहा है कि 'बीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है।' आधुनिक समय के कुशल कलाकार के समान उन्होंने अपनी कल्पना को अपने अध्ययन, विचार एवं चिंतन से अधिक स्वस्थ और पुष्ट बनाने का प्रयत्न भी किया है। मुझे कहना केवल इतना है कि इस प्रयास में, एक समय पर, वे अपनी कल्पना के केन्द्र से किसी अंश में च्युत या विलग हो गए हैं और तब उनकी रचनाओं पर उनके अध्ययन अथवा विचार का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है। इस प्रसंग को, बढ़ाना कम से कम 'पल्लविनी' के पाठकों का ध्यान रखते हुए अप्रासंगिक है, क्योंकि 'पल्लविनी' की कविताएँ जहाँ तक हमें ले जाती हैं वहाँ तक कल्पना के सत्य की ही प्रधानता है, हृदय की संवेदनशीलता ही का स्वर सर्वोपरि है।

शैली से विषयों की ओर आने के पहले मैं उस बात को एक बार फिर दुहरा देना चाहता हूँ जिसे मैं ऊपर कह आया हूँ कि पंत जी अपने और प्रकृति के, मानव जीवन और मानव समाज के, अपने युग, अपने

देश और अपनी संस्कृति तथा इन सब में परिव्याप्त और इन सबसे परे जो शक्ति है उसके प्रति चिर-जागरूक हैं ।

‘वीणा’ में—और इससे मेरा तात्पर्य उन तमाम रचनाओं से है जो ‘वीणा’ काल में लिखी गई हैं और ‘पल्लव’ तथा ‘गुंजन’ में भी पाई जाती हैं—पंत जी अपने और प्रकृति के प्रति सजग हैं । यहाँ कवि ने प्रकृति को विस्मय भरी आँखों से देखा है—वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध है, उसकी पावनता से अभिभूत । वह उसके सौंदर्य को चित्रित करना चाहता है, उसकी पावनता से अपने को निर्मल बनाना चाहता है । वह प्रकृति के साथ इतना रम गया है कि उसे बालाओं की आनन-छवि और उनके काले कुटिल कुंतलों में कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता । उसे बालाओं के बाल-जाल में द्रुमों की छाया अधिक अच्छी लगती है, उनके भ्रू भंगों से इंद्रधनुष के रंगों में अधिक कटाक्ष दिखाई देता है, उनके प्रिय स्वर से कोयल के बोल अधिक कोमल लगते हैं और उनके अधरामृत से किसलय दल पर सुधारश्मि से उतरा हुआ जल अधिक मीठा मालूम होता है । यह वह अवस्था है जब कवि सोचता है कि प्रकृति ही सब कुछ है और वह जो कुछ भी पाना चाहता है वह सब उसी की गोद में उसे मिल जायगा ।

‘ग्रंथि’ में कवि ने अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति को जगाया है । उसके प्रथम दो अध्यायों का कथानक उसके अंतिम दो अध्यायों के हृदयोद्रेकों के लिए अवसर भर प्रदान करता है । मुख्य वस्तु हैं ये उद्गार जिनमें कवि ने अपने हृदय की कसक निकाली है ।

‘पल्लव’ में भी कवि प्रधानतया प्रकृति का कवि है, परंतु अब वह प्रकृति को उन आँखों से देखता है जो प्रेम के आँसुओं से धुल चुकी हैं । अब हर जगह प्रकृति के सौंदर्य पर कवि की भावनाओं की छाया-

सी पड़ गई है और इससे उसका रूप ही बदल गया है। कहीं कवि की भावनाएँ प्रकृति में मूर्तिमान हो जाती हैं, कहीं प्रकृति कवि के हृदय में पैठ उसकी भावनाओं को व्यक्त करती है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में देखने को मिलेंगे।

इस तरह मेरे चित्तरे-हृदय की
वाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत—चित्र थी।

...

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन।

साथ ही उसका रागी मन जिसने एक दिन प्रकृति के सामने नारी की अवहेलना की थी गा उठता है,

तुम्हारे रोम-रोम से नारि !

मुझे है स्नेह-अपार ;

परंतु पंत जी ने अपने को इस रागात्मिकता की धारा में बहने नहीं दिया। एक ओर तो उन्हें भोले बालापन की अबोध पावनता ने खींचा है जिससे उन्होंने कहा है

मेरे यौवन के प्याले में

फिर वह बालापन भर दो।

और दूसरी ओर प्रकृति-दर्शन (Naturalistic Philosophy) के अध्ययन ने उनके मन पर यह बिठा दिया है कि विश्व का सारा सौंदर्य नश्वर है और इसलिए वह कोई ऐसी चीज नहीं जिससे अपने को भुलाया जाय। जैसे वसंत के पीछे पतझड़ छिपा है उसी तरह हर सुंदर शरीर के अंदर कंकाल,

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल ;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार ;

हृदय की रागात्मिका प्रवृत्ति को दवाना सरल नहीं है। अनेक ओर से संयमित और नियंत्रित करने पर भी वह 'गुंजन' के कई गीतों में फूट निकली है जैसे 'भाभी पत्नी के प्रति', 'डोलने लगी मधुर मधु बात' या 'रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम' में। संभवतः यही प्रवृत्ति थी जिसने पंत जी से 'बाँध दिए क्यों प्राण', 'शरद चाँदनी', 'वज्र पायल छम-छम-छम' आदि गीत लिखाए जिनकी चर्चा मैंने अपने 'हलाहल' के कृति परिचय में की थी। मेरा विश्वास है कि पंत जी में यह प्रवृत्ति आज भी सजीव है और संभव है उनके किन्हीं सुकुमार क्षणों में (अपने लिए मैं 'दुर्बल' लिखता) ऐसे ही और गीतों की बौझार करा दे।

'गुंजन' में पंत जी प्रकृति और प्रेम के कवि के साथ ही साथ आत्म-साधना और मानव जीवन के कवि के रूप में भी उपस्थित होते हैं। आत्म-साधना पंत जी के लिए नया विषय नहीं है। इसके बीज बीणा की उन कविताओं में मिलेंगे जहाँ उन्होंने प्रकृति की सुंदरता और पावनता से स्वयं सुंदर और पुनीत बनने की कामना प्रकट की है। गुंजन की आत्म-साधना में अधिक दृढ़ता है, अधिक संघर्ष है, अधिक तप है। अब वे अपने मन को तपाकर अकलुप, उज्ज्वल और कोमल बनाना चाहते हैं—केवल मधुर और मोहन होना ही पर्याप्त नहीं समझते। अधरों पर मधुर अधर धरकर जीवन मृदु स्वर में कहता है—बस एक मधुर इच्छा पर त्रिभुवन का धन-यौवन

सब अर्पित है, परंतु उसी क्षण कवि का मन सचेत होकर कह पड़ता है—ना, मुझे इष्ट है साधन !

अपने से बाहर जाकर मानव जीवन को देखने और समझने की इच्छा 'गुंजन' में नई चीज है ।

देखूँ सब के उर की डाली

किसने रे क्या-क्या चुने फूल

जग के छवि उपवन से अकूल ?

इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !

कई कविताओं में उन्होंने मानव के सुख, दुख, इच्छा, साधना, मुक्ति, बंधन आदि को भी समझने का प्रयत्न किया है । इन कविताओं में जैसे 'परिवर्तन' द्वारा लाए और छाए गए घनांधकार को दूर करने के लिए छोटे-छोटे दीपक-से जलाए गए हैं जो दार्शनिक ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहे हैं ।

'पल्लव' में प्रकृति जहाँ कवि की भावनाओं से अनुरंजित हो गई थी वहाँ 'गुंजन' में वह दार्शनिक विचारों की प्रतीक बन गई है । आत्मा-भिव्यक्ति आत्मसाधना में बदल गई है, 'पल्लव' की नारी 'अप्सरा' में निखरकर (Sublimate होकर) जैसे अधर में अंतर्धान हो गई है और उसका स्थान निर्देह मानवता ने ले लिया है । प्रकृति, जग और जीवन में जो कुछ है उसका रहस्य समझकर ही कवि अपने कार्य की इति श्री कर बैठा है ।

'ज्योत्स्ना' कवि पंत के काव्य-पथ पर एक नया और महत्त्वपूर्ण कदम है । इसमें हम पहली बार पंत जी को भावी के स्वप्न द्रष्टा के रूप में देखते हैं । 'ज्योत्स्ना' में कवि ने मानव समाज का नया स्वप्न देखा है ।

मुझे फिर लिखना पड़ता है कि 'ज्योत्स्ना' के गीतों को अलग से देखने पर उसका महत्त्व बिस्कुल गायब हो जाता है। यह पश्चिम के जड़वाद के शरीर में पूर्व के अध्यात्मवाद की आत्मा को स्थापित करके एक ऐसी विश्व संस्कृति को जन्म देने का स्वप्न है जिसमें

सर्वदेश. सर्वकाल,

धर्म, जाति, वर्णजाल,

हिलमिल सब हो विशाल

एक हृदय, अग्रणीत स्वर ।

'युगांत' में जैसे कवि को यह आभास हुआ है कि नए के निर्माण के लिए पुराने को नष्ट-भ्रष्ट करना जरूरी होगा। यहाँ पर पंत का कौमल कवि पुरुष और पौरुष पूर्ण हो गया है। ये पंक्तियाँ स्वयं बोलती हैं।

हत भरो जगत के जीर्ण पत्र

...

गा कोकिल बरसा पावक वरण

...

बढ़ो अभय विश्वास चरण धर

...

गर्जन कर मानव केशवि

यहाँ से पंत की संवेदनशीलता का आवंग घट जाता है। इसके बाद ही शैली में परिवर्तन हो जाता है। भावनाओं का स्थान विचार ले लेते हैं। 'युगवाणी' को काव्य की दृष्टि से मैं मौलिक रचना नहीं मानता। 'ज्योत्स्ना' में जो काव्यात्मक ढंग से कहा गया था उसी का विश्लेषण करके 'युगवाणी' में रक्खा गया है।

‘ग्राम्या’ में जैसे कवि ने उन्हीं विचारों के प्रकाश में, गाँवों की परीक्षा ली है। प्रायः उसे असंतोष ही हुआ है, पर जहाँ कहीं यह असंतोष असह्य हुआ है वहाँ भविष्य के सुंदर स्वप्नों का निर्माण हो गया है और इस दृष्टि से ‘युगवाणी’ की अपेक्षा ‘ग्राम्या’ में संवेदनशीलता और कवित्व अधिक मात्रा में मिलेंगे। इन दोनों रचनाओं में यद्यपि पिछली प्रवृत्तियों के चिन्ह भी मिलते हैं। कवि विशेषकर अपने युग और देश के प्रति जागरूक है।

✓ ‘स्वर्ण-किरण’ और ‘स्वर्ण-धूलि’ में कवि को अपनी संस्कृति के प्रति विशेष आस्था हो गई है। वह समझता है कि विश्व का कल्याण भारतीय संस्कृति द्वारा ही होना है। ईश्वर पर चिर विश्वास उसे पहले भी था। ईश्वर अब उसके विश्वास की वस्तु नहीं अनुभव की सत्ता है। इन दोनों रचनाओं में यद्यपि चिंतन-दर्शन ही प्रधान है, फिर भी संवेदनशीलता का बड़ा स्निग्ध प्रभाव हमें सब जगह दिखाई पड़ता है। अब वह प्रथम काल की चित्रमय कल्पना और मधुमय ध्वनियों को तो नहीं जन्म देती, परंतु उसकी सरसता का आभास हमें हर स्थान पर मिलता है।

संक्षेप में यह है पंत जी की विचार धारा, उनका आदर्श और उनका स्वप्न अथवा एक शब्द में उनका भाव-जगत या अंतर्जगत्। इस अंतर्जगत् का निर्माण किन वस्तुओं के द्वारा और कैसे हुआ है इसे समझने का प्रयत्न करना उनके जीवन और व्यक्तित्व को भाँकना है। और यहाँ मेरे अध्ययन की अपेक्षा मेरा सौभाग्य ही अधिक सहायक है—और वह है पंत जी की निकटता। उनसे मैंने जो सुना या जाना है और उनमें जो मैंने देखा और पाया है उसने मुझे उनकी रचनाओं को देखने का एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया है। यही दृष्टिकोण अब

मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ । मुझे आशा तो करनी ही चाहिए कि यहाँ से आप उन्हें और उनकी रचनाओं को अगर ज्यादा अच्छी तरह से नहीं तो कम से कम एक नई तरह से तो जरूर देख सकेंगे ।

पंत जी के भाव जगत के निर्माण में सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उनकी जन्मभूमि का है । वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि मेरे जन्मस्थान को निश्चित करने में भी मेरा सौभाग्य काम कर रहा था

Fair seed-time had my soul, and I grew up

Foster'd alike by beauty and by fear ;

Much favour'd in my birth place, [Prelude Book I]

[मेरी आत्मा को अंकुरित होने का बहुत अनुकूल समय मिला, मैं प्रकृति के सुंदर और उग्र रूप से प्रतिपालित होता हुआ बढ़ा, मैं अपने जन्मस्थान में ही सौभाग्यमान था ।]

पंत जी भी शायद यही कहते, हाँ, Fostered alike by beauty and by fear की जगह वे जरूर यह परिवर्तन कर देते Fostered alike by beauty and by piety । बजाय यह कहने के कि मैं प्रकृति की सुंदरता और उग्रता से प्रतिपालित हुआ बढ़ा । वे कहते मैं प्रकृति की सुंदरता और साधना से प्रतिपालित हुआ बढ़ा । मगर क्यों ?

पंत जी का जन्म कौसानी में हुआ था । कौसानी का प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए पंत जी नहीं थकते, परंतु हर बार जब-जब कौसानी की चर्चा छिड़ी है पंत जी ने कौसानी की पावनता और निर्मलता का भी वर्णन अवश्य किया है । मुझे कविवर नरेंद्र की 'कौसानी' शीर्षक कविता स्मरण हो आई । कौसानी के सौंदर्य के इन दोनों पक्षों को उन्होंने देखा है—एक ओर तो कौसानी में ऐसा जादू भरा है कि वह कूर्माचल की पटरानी लगती है और दूसरी ओर—

यह तपोभूमि कौसानी है
 तप की जीवित जाग्रत महिमा,
 है कौसानी में मूर्तिमान
 तप निरत साधनामयी उमा !

एक ओर जहाँ कौसानी अपने सौंदर्य से अप्सरा-सी लगती है वहाँ दूसरी ओर अपनी पावनता से तपस्विनी-सी । तभी तो एक ओर जहाँ उसने कवीन्द्र रवीन्द्र को इतना मोहित किया कि उन्होंने उसी की छाया में अपने शांति निकेतन की शाखा आरोपित करने की इच्छा प्रकट की, वहाँ दूसरी ओर उसने महात्मा गांधी को अनासक्ति-योग नाम से गीता का भाष्य करने की भी प्रेरणा दी । ऐसी है वह राग-विरागमयी कौसानी जिसने पंत जी को बचपन में धाय की तरह पाला है; और उसने अपने इन्हीं दो परस्पर विरोधी गुणों से पंत जी को समलंकृत कर उन्हें काव्य और जीवन के मार्ग पर छोड़ दिया है ।

Child is the father of man.

पंत जी के जीवन में कौसानी सजीव हुई है, पंत जी की कविता में कौसानी, मुखरित । पंत जी का हृदय राग और विराग का भरा हुआ प्याला है । पंत जी का जीवन राग और विराग का संघर्ष है । पंत जी की कविता में यही राग और विराग चिर-स्नेहालिंगन देकर बँधे हुए हैं । इन्हीं राग और विराग की लहरों पर पंत जी का तन, मन, प्राण सदा लहराता रहा है । पंत जी की पंक्ति-पंक्ति में, कविता-कविता में, रचना-रचना में इसी राग और विराग की लय (Rhythm) मौजूद है; और यही लय मौजूद है उनके जीवन की हर घड़ी में, हर अवस्था में, हर दशा में । मुझे इसी राग-विराग की लय, इसी के संयोग, इसी के संघर्ष और इसी के संतुलन में पंत जी के जीवन और काव्य की कुंजी मिली है ।

राग ने जहाँ उन्हें रूप-रंग-रस के संसार की ओर खींचकर कवि बनाया है वहीं विराग ने इससे दूर खींचकर उन्हें संत भी बनाया है। शायद यह बात कम ही लोगों को मालूम है कि पंत जी का घर का नाम 'सैं' है जिसके अर्थ पहाड़ी में हैं साईं अथवा संत। कौसानी होकर बदरिकाश्रम जाते हुए साधुओं के प्रभाव में आकर एक बार लड़कपन में उन्हें घरबार छोड़ साधू बनने का विचार आया भी था। वह तो पूरा नहीं होने दिया गया, परंतु घरवालों ने इनकी जिस प्रवृत्ति को देखकर इनका नाम 'सैं' रक्खा था उसके बीज इनमें बहुत दृढ़ता से जड़ जमा चुके थे। पंत जी ने रंगे गेरुए बसने तो नहीं धारण किए पर आज भी वे अंदर से संत ही हैं। यहाँ जोगी ने कपड़े न रंगाकर मन को ही रंगा लिया है। बैरागी के वस्त्रों से तो उन्होंने अपने को बचा लिया पर उसकी जटा आज भी उनके रागी मन से समझौता-सा करके उनके घने, लहरे रेशम के बालों में उनके सिर पर मौजूद है। कवि पंत के पीछे एक दिव्य संत, और संत पंत के पीछे एक सरस कवि बैठा हुआ है। इसी संयोग ने उनकी सरसता को उच्छृंखल और उनकी साधना को शुष्क होने से बचा लिया है।

उनकी प्रारंभिक रचनाओं में कितनी ही ऐसी पंक्तियाँ हैं जो संत वृत्ति पंत के मुख से निकली मालूम पड़ती हैं। एक समय उन्हें पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ था कि यह १८ वर्ष का युवक ऐसी बातें किस तरह कहता है।

माया सागर में डूबों का

सोख-सोख रति रस हर दूँ—

जग की मोह तृषा को छल,
 सुखे-मरु से मा ! शिक्षा का
 स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ—

यह जग का सुख जग को दे-दे

अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

इन पंक्तियों में माया को डुबाने वाला सागर समझनेवाला, मोह को मरु में भटकानेवाली तृषा माननेवाला और दुख और सुख से इस भाँति निर्लिप्त पंत का संत ही बोल रहा है। पंत जी को प्रायः सौंदर्योपासक कवि कहा गया है, पर उनके संत ने सौंदर्य को तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक वह पावन भी न हो। कवि की रुचि पर सदा संत के संयम का अनुशासन लगा रहा है। वे जहाँ 'उज्ज्वल तन' देखते हैं वहाँ 'उज्ज्वल मन' भी देखते हैं। कृष्णा को फेनोज्ज्वल वस्त्र इसीलिए दिए गए हैं कि वह 'शुद्ध' और 'स्वच्छ' रहे। शिशु के अधरों पर जो गीत है, वह 'मधुर' ही नहीं 'पुनीत' भी है। जब वे 'आओ सुंदर' कहते हैं तो 'आओ शिव' भी कहते हैं। प्रेयसी के लिए उनका प्रेम 'पावन' है। उसका संग उनके लिए 'पावन गंगा स्नान' है। त्रिभुवने की प्रेयसी के 'पावन स्थान' को नहीं भूल सकते। नारी का सौंदर्य सकल ऐश्वर्यों की खान हो, पर उन्हें अभिमान उसकी 'पावनता' का ही है। करुणावान अनंग से वे विश्वकामिनी की 'पावन छवि' दिखलाने की ही प्रार्थना करते हैं। वे शुभ्र निर्भर के साथ उसका नाद भी 'निर्मल' पाते हैं। गुलाब के हृदय में उन्हें 'दिव्य विकास' दिखाई देता है। वे अपने जीवन के प्रतिपल को 'सुंदर', 'सुखकर' ही नहीं चाहते 'शुचित्तर' भी चाहते हैं। हिमाद्रि ने जो

उन्हें शैशव में आशीर्वाद दिया था वह भी 'पावन' था। उसके शिखरों की शीतल ज्वाला में गलकर उनकी चेतना 'निर्मल' बनी थी और उन्होंने अपनी काव्य कल्पना को 'उज्ज्वल' किरीट पहनाना चाहा था।

रागी मन पर विरागी चेतना के नियंत्रण का परिणाम यह भी हुआ है कि सुंदरता पर कभी वे पूरी तरह से निछावर नहीं हो सके, बलिहार नहीं गए, लहालोटे नहीं हुए। जब इच्छाओं ने उन्हें माधुर्य की ओर खींचा है तब साधना ने उन्हें आदर्शों से बाँध दिया है। राग और विराग के इसी संघर्ष ने जीवन के अनुभवों से भी उन्हें दूर-दूर रक्खा है। वे अनुभवों की गहराई में नहीं पैठ सके, उसमें भीग नहीं सके, उसकी तीव्रता अथवा दग्धता को मुखरित नहीं कर सके। जब उनके रागी मन ने अनुभवों की ओर उन्हें निमंत्रित किया है तो उनकी विरागी चेतना ने जैसे उसे बहलाने के लिए उसके आगे कल्पना के कुछ खिलौने फेंक दिए हैं। पंत जी के कवि मन ने बस उसी से रीझ-खेलकर अपने को संतुष्ट कर लिया है। और इस प्रकार उनकी विरागी चेतना को उन्हें वास्तविकता की मलिनता से अछूता रखने की सफलता मिली है। साथ ही रागी मन भी बिल्कुल उपेक्षित नहीं रह गया, उसे अपने को तृप्त करने का भी कुछ साधन मिल ही गया है। मेरे एक साहित्यानुरागी मित्र का विश्वास था कि पंत जी की कतिपय रचनाओं के पीछे कोई सच्ची घटना अवश्य है। अबसर पाकर जब मैं उनसे पूछा तो उत्तर मिला—कल्पना है। कवि होने के नाते मैं बहुत दिनों से अपनी अनुभूति में कल्पना को सम्मिलित कर रक्खा है, पर उसका स्थानापन्न नहीं माना। कल्पना के सत्य का, अनुभव के सत्य से जो निकट संबंध है उससे भी मैं अनजान नहीं हूँ फिर भी दोनों के गायकों में मुझे विभेद करना होगा तो मैं यही कहूँगा कि पंत जी

कल्पना के गायक हैं, अनुभूति के नहीं—इच्छा के गायक हैं, वासना, तीव्रतम इच्छा के नहीं ।

हम पंत जी के अंतर्जग को बनानेवाले तत्त्वों का निरूपण कर रहे थे । प्रथम तत्त्व तो उनकी जन्मभूमि है जिसने उनके हृदय को राग-विराग का क्रीड़ा अथवा कलह—यह भी एक प्रकार की क्रीड़ा ही है—क्षेत्र बना दिया । दूसरा स्थान उनके अध्ययन का है । ऐसी परिस्थिति में जब उन्होंने अनुभव की पुस्तक नहीं खोली अथवा उसके कुछ पन्ने ही उलट-फेरकर छोड़ दी है, उनके अध्ययन की महत्ता बढ़ जाती है । यहाँ भी उनकी रागी और विरागी मनोवृत्ति उनका निर्देश करती हुई दिखलाई देती है । एक ओर तो वे पढ़ते हैं मेघदूत और शकुंतला और दूसरी ओर उपनिषद् और गीता, एक ओर रीति कालीन कवियों की रचनाएँ—‘पल्लव’ की भूमिका में इस अध्ययन की कितनी प्रतिध्वनियाँ हैं—और दूसरी ओर स्वाामी रामतीर्थ और विवेकानंद का वेदांत दर्शन । एक ओर कीट्स और टेनिसन की मंजुल रचनाएँ और दूसरी ओर ह्यूम और कांट की गूढ़ विवेचनाएँ । एक ओर रवीन्द्र कवीन्द्र की सरस कृतियाँ और दूसरी ओर योगीश्वर अरविंद की ज्ञान गवेषणाएँ । यह कोई घटनात्मक बात नहीं है कि अबतक पंत जी की शांति निकेतन और श्री अरविंद आश्रम के बीच कितनी ही यात्राएँ हो चुकी हैं । अभी कल की ही बात है कि पंत जी का मन घड़ी के पेंडुलम की भाँति मद्रास स्थित उदयशंकर के कला केंद्र और पांडीचेरी के साधना मंदिर के बीच डोल रहा था । इस कवि और विवेचक, रसिक और विचारक का सबसे स्पष्ट प्रतीक पंत जी का ‘गुंजन’ है । इसमें ऐसी भी कविताएँ हैं जो कवि के हृदय से उतरी हैं और ऐसी भी हैं जो विचारक के मस्तिष्क से उपजी हैं । ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनको कवि ने आरंभ

किया है और दार्शनिक ने समाप्त किया है, ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनका दार्शनिक ने आरंभ किया है और कवि ने समाप्त किया है—क्रम से 'बनबन-उपवन', 'क्या मेरी आत्मा का चिर धन', 'नौका विहार', 'मैं नहीं चाहता चिर-सुख' देखें। ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें पंत जी के रागी ने विराग के—विरुद्ध बिल्कुल विद्रोही होकर गीत गाया है,

अधर उर से उर अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये प्राणों की प्राण !

और ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनमें उनके विरागी ने रागी को एकदम कुचल दिया है और उसे जब जीवन की चंचल सरिता से मोतीवाली मछली निमंत्रित करती है तो वह सीधा-पूखा यह भीरु उत्तर भर दे सकता है,

पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली ।

कवि अभी राग-विराग के भूले में भूल ही रहा था कि नियति ने उसे कालाकौंकर में लाकर रख दिया। कालाकौंकर के निवाम का भी पंत जी के जीवन विकास से बड़ा स्थान है। 'यहा उन्होंने सज्ज-भवन का वैभव देखा और उसी के विपरीत भोंपड़ियों का दैन्य भी। गाँव उन्हें नरक के समान लगे, ग्राम का निवासी उन्हें युग-युग से अभिशापित दिखाई दिया। उनका मन क्षोभ और ग्लानि से भर गया। ग्राम उन्हें देश का प्रतीक लगा, देश मानवता का। अपने दुख-सुख, हर्ष-शोक से वे ऊपर उठ ही चुके थे, उन्होंने मानवता के भविष्य का स्वप्न देखना आरंभ किया। परिणाम 'ज्योत्स्ना' थी। यहाँ कवि और दार्शनिक का जो सरस

संतुलन देखने को मिलता है वह एक अभूतपूर्व वस्तु है। विचारक ने जैसे रेखाएँ खींची हैं और कलाकार ने उनमें रंग भरा है। रागी ने भौतिकता को स्वीकार करके बाहर का संसार सजा दिया है। विरागी ने इसी विश्व-प्रासाद में अध्यात्म का प्रकाश कर दिया है। पंत जी के राग और विराग के संधि, संतुलन और समन्वय की इससे बढ़कर पंक्तियाँ और कहाँ मिलेंगी—

मत हो विरक्त जीवन से ,

अनुरक्त न हो जीवन पर ।

उनका कवि उनसे जीवन से विरक्त होने को मना करता है, उनका संत उनसे जीवन पर अनुरक्त होने की आज्ञा नहीं देता। फिर भी इन पंक्तियों में ऐसा लगता है कि हम यह दोनों काम साथ ही कर सकते हैं। पंत जी की यह पहली रचना है जिसमें उनके चित्त की परस्पर विरोधी वृत्तियों ने सहयोग करके एक सुंदर-शिव मार्ग की खोज की है। निराला जी ने कुछ समझकर इसकी विज्ञापिका में लिखा था 'ज्योत्स्ना में उनका (पंत जी का) पहला, प्रिय, भावमय, श्वेत वाणी का कोमल कवि-रूप दृष्टिगोचर होता है।' राग और विराग, काव्य और दर्शन, भावना और बुद्धि, भौतिकता और आध्यात्मिकता एक दूसरे के गले में बाहें डाले हुए मानव स्वप्नों के जिस ऊँचे शिखर तक पहुँच सकती थीं, 'ज्योत्स्ना' ने उसे छू लिया है। इस संतुलन को प्राप्त करने के लिए पंत जी को जो संघर्ष करना पड़ा था 'गुंजन' उसी का साक्षी है।

पंत जी का राग पक्ष तो सदा से सकारात्मक और सहज साध्य रहा है, परंतु विराग पक्ष को अनुशासित, दीक्षित और सुसंस्कृत करने के लिए उन्होंने अनवरत साधना की है। जो एक सिरे पर नकारात्मक

और पलायन प्रेरक था—जैसा कि हमारे आधुनिक साधुओं के जीवन में आज भी दृष्टिगोचर हो सकता है—जिम्मे, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ एक बार उन्हें अपने निम्न पथ की ओर खींचा भी था—वही उनके तप के आधार से ऊँचे उठकर चिंतक, विचारक, दार्शनिक, द्रष्टा और जग मंगलाभिलाषी के रूप में परिणत हो गया है। हमारी स्वस्थ परंपरा का संत भी जग से भागा नहीं—उसने जग मंगल की कामना ही की है।

मेरी धारणा है कि 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् रागी का पक्ष दबता और विरागी का उभरता आया है। 'युगांत' में, जिसमें पंत जी ने स्वयं कोमल कांत पदावली का अभाव देखा था और वहाँ से नवीन क्षेत्र अपनाने की चेष्टा आरंभ की थी, मेरे दृष्टिकोण के अनुसार चिंतक और कहीं-कहीं आवेशपूर्ण सुधारक के रूप में उनका विराग ही जोर पकड़ रहा है। 'युगवाणी' में वही विचारक हो गया है। 'ग्राम्या' में रागी फिर ऊपर उभरा है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में रागी पीछे चला गया है और विरागी फिर दार्शनिक और द्रष्टा के रूप में आगे बढ़ा है। 'स्वर्ण किरण' में अभी कल ही 'द्वासुपर्णा' शीर्षक कविता पढ़ता हुआ मैं सहसा रुक गया। उपनिषद् के प्रसिद्ध मंत्र के आधार पर यह कविता लिखी गई है। विश्व वृक्ष पर दो पक्षी हैं—एक तो उसके फल का स्वाद लेता है और दूसरा उसपर केवल अंतर्लोचन होकर स्थित है। एक इनमें से जीव है दूसरा ब्रह्म, एक भोक्ता, एक द्रष्टा। पंत जी इसी चिरंतन सत्य को मानव जीवन में उतारना चाहते हैं—वे पूछते हैं कि क्या मनुष्य अपने में ही संग-संग दोनों पक्षियों के गुण को लेकर नहीं चल सकता जो जीवन वृक्ष पर नीड़ बनाकर उसके फल भी खाए और निश्चल देखता भी रहे। और वे इन पंक्तियों में अपना विश्वास प्रकट करते हैं—

ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन

मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन ।

पंत जी का जीवन और काव्य स्वयं इसका प्रयोग है, इसकी साधना है । उनके हृदय नीड़ में राग और विराग के दो पक्षी सदा से बैठे रहे हैं । इन्हीं दोनों के गुणों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न उनके जीवन और उनके काव्य का इतिहास है । इतिहास लंबा है—एक से दूसरे की मुठभेड़ भी हुई है, एक ने दूसरे पर अधिकार भी किया है, एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चले भी हैं, और भी अनेक अवस्थाएँ रही हैं, वह सब मैं आपकी कल्पना पर छोड़ देता हूँ । यह निर्णय देना मेरा काम नहीं है कि उनके काव्य और जीवन में यह संतुलन आ चुका या नहीं । पर इतना मैं जानता हूँ कि यह दोनों आज भी उनमें सजीव और प्रबल हैं । मुँहलगा तो मैं उनका हूँ ही; अक्सर मैंने उनसे कहा है कि, 'साईं दा, एक दिन आप साधू हो जायेंगे ।' उनका रागी, उनका भोक्ता, उनका कवि इस बात को सुनकर काँप उठा है, 'मैं इस रूप-रंग के संसार को, इस नव-नव भावों से उच्छ्वसित जीवन को छोड़ कहाँ जा सकता हूँ ।' उनके मुँह से फूट पड़ा है । कभी मैंने उनसे कहा है, 'पंत जी, आपने विवाह क्यों नहीं किया, घर क्यों नहीं बसाया ?' और मैं उनके आगे अपनी कवि-पुखरता में सुखी गृहस्थ जीवन का एक नक्शा खींच गया हूँ । मेरे शब्दजाल के बागुर विषम को तुड़ाकर उनका मन मृग, उनका विरागी, उनका दार्शनिक, उनका संत दूर खड़ा हो गया है, वे बोल उठे हैं, 'आज के समाज-संसार में यह बंधन है, बंधन ।' और मैंने कहा है, उनकी ही पंक्ति को उद्धृत करते हुए—'तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन ।' उनका कवि मुसकरा कर चुप हो गया है ।

सारांश में इसी राग-विराग की क्रिया-प्रतिक्रिया उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है। जो उनका जीवन है वही उनका दर्शन है। जहाँ उनके जीवन की समस्या का हल है, वहीं संसार की समस्या का हल है, कम से कम उनके अनुसार। अब आप को अधिकार है कि आप छायावाद, रहस्यवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद आदि-आदि को लेकर देख लें कि आप उन्हें अथवा उनकी रचनाओं को किस-किसके अन्तर्गत रख सकते हैं। मेरे लिए तो उन्होंने केवल अपने अंतर के द्वंद्व, दहन, और प्रकाश को बाहर बिखेर दिया है—इसी को बाबा तुलसीदास स्वांतः सुखाय कहते। आप विचार करके देखेंगे तो पाएँगे कि जिसकी खोज उन्होंने अपने हृदय के अंदर की है, उसी की खोज भारतीय संस्कृति मनु से करती रही है। वे अपनी इस खोज में आत्मस्थ (individual) भी हैं और विश्वस्थ (universal) भी; चिर पुरातन भी हैं, चिर नवीन भी। वे अपनी उस साधना में परंपरा की शक्ति भी लिए हैं, प्रयोग का उत्साह भी; प्रयोग की उत्सुकता भी और परंपरा का विश्वास भी।

पंत जी की कला पर केवल उनकी भाषा के संबंध में लिखते हुए मैंने संकेत भर किया है। विस्तार से यहाँ भी नहीं कहना चाहता। जैसे उनकी रागी और विरागी वृत्तियों ने उनका विकास कलाकार और तत्त्ववेत्ता में किया है, उसी प्रकार उनके कलाकार की भी दो प्रकार की अभिव्यंजनाएँ हैं—एक के पीछे उन घाटियों का संस्कार है जिनमें पत्रों का मर्मर संगीत है, पुष्पों का रस-राग-पराग है, कोकिल का मादक गान है, नववय के अलियों का गुंजन है, चित्र-विचित्र तितलियाँ उड़ती हैं, मुकुलों के उर में मंदिर बास है, मलय समीर सौरभ से अस्थिर है और जहाँ भरतों का टलमल-टलमल निनाद है। दूसरे के पीछे उन पर्वतों

का संस्कार है जो भीमकाय ठोस चट्टानों से बने हुए है, जो अपनी शांति और नीरवता में समाधिस्थ से लगते हैं, जिनके ऊपर वात, वर्षा, विद्युत का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जो स्वर्गाभिमुख होकर युगों से खड़े हुए हैं और जिनके शीश पर प्रकृति ने हिम का उज्ज्वल मुकुट पहना रक्खा है। जब उनमें राग तत्त्व प्रधान होता है तब वे अपनी भावना को चाँदनी में नहला कर सुजात शिल्पी के समान नव-नव वस्त्राभूषणों से सजा देते हैं; जब उनमें विराग तत्त्व प्रधान होता है तब वे अपने विचारों के स्वस्थ शरीर को मल-दल धूप में खड़ा कर देते हैं और कहते हैं—तुम तो अपने आप ही सुंदर हो, यथा,

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार

वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ।

पंत जी के विचार में जिस प्रकार आदर्श संस्कृति में, भौतिकता और आत्मिकता का सम्मिलन होगा, आदर्श मानव में आसक्ति और विरक्ति का संतुलन होगा, उसी प्रकार उनके आदर्श कलाकार में कवि और दार्शनिक परस्पर सहयोगी होंगे और उनकी आदर्श कविता में भावना और विचार का—शृंगार और शक्ति का समन्वय होगा। किस जगह, कितनी, कैसी, और कैसे इस प्रयास में उन्हें सफलता अथवा असफलता प्राप्त हुई है यह काम मैं सद्दय और सजग पाठकों पर छोड़ता हूँ—मैंने सद्दय और सजग—दो शब्द जान-बूझकर लिखे हैं, क्योंकि पंत जी का आदर्श पाठक भी वही हो सकता है जिसका हृदय और मस्तिष्क दोनों विकसित हो—जो स्वप्न की तरलता में बह सके और सत्य के ठोसपन से टक्कर भी ले सके। अंग्रेजी कवि शेले ने कहा था, मेरी पत्नी वह स्त्री हो सकती है जो कविता में डूब सके और

दर्शन में पारंगत हो सके (who can feel poetry and understand philosophy) । अपने आदश पाठक से पंत जी भी यही प्रत्याशा रखते हैं ।

कवि से पाठक बड़ी-बड़ी प्रत्याशाएँ करता है—सत्य दो, स्वप्न दो, अनुभूति दो, कल्पना दो, संगीत दो, शृंगार दो और न जाने क्या-क्या दो । सब की सीमाएँ हैं और कवि की भी । देखना पड़ेगा कि कौन कितना दे सकता है और कितना देता है । कविन्व का वैभव वरदान भी है और संधान भी । पंत जी को जो मिला है और जिसकी उन्होंने खोज की है वह सब उन्होंने काव्य को दान कर दिया है । उनकी कविता उनका आत्मदान है ।

✓ महाकवि मिट्टन ने लिखा है कि जो व्यक्ति उच्च विषयों पर सफलतापूर्वक लिखने की आकांक्षा रखता है उसे चाहिए कि वह स्वयं एक परिपूर्ण कविता बने । इसी प्रकार पंत जी ने अपनी 'ज्योत्स्ना' में कुमार से कहलाया है, 'सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है । अपने को जीवन के सत्य और सौंदर्य की प्रतिमा बना लेता है । कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है ।' और उन्होंने जो लिखा है उसके उदाहरण वे खुद हैं । पंत जी का जीवन स्वयं एक कविता है । और उनकी कविता है उनके जीवन की परछाई । कवि से जो सबसे बड़ी चीज़ माँगी जा सकती है, वह है—उसकी सच्चाई और ईमानदारी । इसके अतिरिक्त वह कुछ और दे सकने के लिए बिल्कुल असमर्थ है । पंत जी की लेखनी से जो कुछ स्रवित हुआ है वह बहुत पहले उनके अंतर को भिगा चुका है, उनके कंठ से जो मुखरित हुआ है वह बहुत पहले उनके श्वास-प्रश्वास में स्पंदित हो चुका है और जो भाव-विचार-कल्पनाएँ उनके

शब्द-छंदों में मूर्तिमान हुई हैं वे वही हैं—केवल वही हैं जो चिर काल तक उनके मन-प्राण का मंथन करती रही हैं। उनकी कविता केवल उनकी आत्माभिव्यक्ति नहीं, मैं फिर कहूँगा, उनका आत्मदान है।

जिस कवि ने अपने आप को ही अपनी कविता में रख दिया है, उसे अपने पाठकों से भी कुछ प्रत्याशा करने का अधिकार है। उनके व्यक्तित्व की एक भाँकी देने का प्रयत्न करके संभवतः मैंने इसका संकेत कर दिया है कि वह प्रत्याशा क्या हो सकती है। मैंने शुरू में ही कहा था कि उनके व्यक्तित्व को समझे बिना उनकी कविता नहीं समझी जा सकती। यों तो अंग्रेजी में कहा जाता है *A Milton is required to understand a Milton* अर्थात् मिल्टन ही मिल्टन को समझ सकता है। यह कहकर मैं आपको निरुत्साहित नहीं करना चाहता यद्यपि उसके सत्य को मैं पूर्ण रूप से मानता हूँ। आप इतना भी बहुत करेंगे यदि आप अपने हृदय और मस्तिष्क की भावुकता और सतर्कता को उन्हें अध्ययन करते समय सचेत और सजग रखें। जिसके लिए कवि अथवा लेखक ने साधना की है उसका आनंद लेने के लिए पाठक को भी साधना करनी पड़ती है। कविता से सहज ही आनंद प्राप्त करने की माँग बढ़ती जा रही है—बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। पंत जी की कविता साधना माँगती है। मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध आधुनिक समालोचक और अध्यापक एच० डब्ल्यू० गैराड का एक कथन याद आता है। वे कहते हैं,

We ask of poetry, and quite properly, pleasure ; but poetry—quite properly also—asks of us pains.

(३८)

हम कविता से, यह उचित ही है कि आनंद माँगते हैं, लेकिन कविता, और यह भी ठीक ही है कि हम से साधना चाहती है।

सौभाग्य की बात है कि पंत जी की कविता जिस विकसित हृदय और मस्तिष्क की माँग पाठक से करती है, उसके निर्माण में स्वयं सहायता भी पहुँचाती है।

अंग्रेजी विभाग,

विश्वविद्यालय,

प्रयाग।

कृष्ण जन्माष्टमी, '४७।



सूची

विषय	पृष्ठ
१ विनय	१
२ अभिलाषा	२
३ आकांक्षा	४
४ अंतर	६
५ काला बादल	७
६ कृष्णा	९
७ आशंका	१०
८ निवेदन	११
९ मोह	१२
१० कुषकबाला	१३
११ अंधकार के प्रति	१५
१२ छाया	१७
१३ याचना	१९
१४ विहग बाला के प्रति	२०
१५ प्रथम रश्मि	२१
१६ बालापन	२४
१७ स्वप्न	२९
१८ ग्रंथि	३६
१९ छाया	५६
२० वच्छास	६२

विषय	पृष्ठ
२१ आँसू	७२
२२ नारी रूप	८०
२३ बादल	८२
२४ सोने का गान	८७
२५ मुसकान	८९
२६ मधुकरी	९१
२७ निर्मरी	९३
२८ विश्व वेणु	९५
२९ वीचिविलास	९८
३० अनंग	१०२
३१ शिशु	०९१
३२ मौन निमंत्रण	१११
३३ परिवर्तन	११५
३४ शिशु भावना	१३७
३५ लोगी मोल	१३९
३६ गीत खग	१४१
३७ प्रतीक्षा	१४३
३८ भावी पत्नी के प्रति	१४४
३९ मधु स्मिति	१५०
४० मन विहग	१५१
४१ प्रेम नीड़	१५३
४२ मधुवन	१५४
४३ गृहकाज [... ..	१६१

विषय	पृष्ठ
४४ संध्या	१६३
४५ चारवायु	१६५
४६ प्रार्थना	१६६
४७ नव संतति	१६७
४८ गुंजन	१६८
४९ तप रे	१७०
५० जिज्ञासा	१७१
५१ सुख दुख	१७२
५२ उर की डाली	१७४
५३ अवलंबन	१७५
५४ चिर सुख	१७७
५५ उन्मन	१७९
५६ संध्या तारा	१८१
५७ नौका विहार	१८४
५८ चाँदनी	१८८
५९ चाँदनी	१९२
६० जीवन क्रम	१९३
६१ अप्सरा	१९४
६२ सान्ध्य वन्दना	२०३
६३ ज्योत्स्ना स्तुति	२०४
६४ मिलन	२०५
६५ लिली के प्रति	२०६
६६ जुगनू	२०७

विषय	पृष्ठ
६७ ओस का गीत	२०८
६८ छाया का गीत	२०९
६९ पवन गीत	२१०
७० तितलियों का गीत	२११
७१ हिलोरो का गीत	२१३
७२ झकोरो का गीत	२१४
७३ हिलोर और झकोर	२१५
७४ विहग गीत	२१६
७५ स्वप्न कल्पना	२१७
७६ मधु प्रभात	२१८
७७ जीवन वसंत	२१९
७८ मानव स्तव	२२०
७९ सौर मंडल	२२१
८० निद्रा का गीत	२२२
८१ प्रलय गीत	२२४
८२ उषा वन्दना	२२५
८३ मंगल गान	२२६
८४ द्रुत झरो	२२७
८५ गा कोकिल	२२८
८६ वे झूब गये	२३०
८७ मानव जग	२३१
८८ ताज	२३२
८९ कलरव	२३३

विषय	पृष्ठ
९० आकांक्षा	२३५
९१ शुक्र	२३७
९२ छाया	२३८
९३ वसंत	२४०
९४ अल्मोड़े का वसंत	२४२
९५ विजन घाटी	२४३
९६ प्रथम मिलन	२४४
९७ मधु स्मृति	२४६
९८ खद्योत	२४८
९९ मानव	२४९
१०० सृष्टि	२५२
१०१ बापू के प्रति	२५४

पंक्ति क्रम

पंक्ति	पृष्ठ
१ अपने ही सुख से चिर चंचल ...	२१३
२ अपलक आँखों में ...	७२
३ अब न अगोचर रहो ...	१५
४ अरी सलिल की लोल हिलोर ...	९८
५ अलस पलक सघन अलक ...	२०९
६ अहे विश्व अभिनय के नायक ...	१०२
७ अँगड़ाते तम में ...	२०
८ अधियाली घाटी में ...	२४८
९ आओ जीवन के आतप में ...	२१६
१० आज नव मधु की प्रात ...	१५४
११ आज रहने दो यह गृह काज ...	१६१
१२ आज शिशु के कवि को ...	१३७
१३ आँसू की आँखों से मिल ...	१७५
१४ उड़ता है जब प्राण ! ...	२४६
१५ उस सीधे जीवन का श्रम ...	१३
१६ कब से विलोकती तुमको ...	१४३
१७ कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन ...	११५
१८ कहेंगे क्या मुझसे सब लोग ...	८९
१९ कहो हे प्रसुदित विहग कुमारि ...	८७
२० काला तो वह बादल है ...	७

पंक्ति	पृष्ठ
२१ कुसुमों के जीवन का पल	१७७
२२ कौन कौन तुम परिहृत वसना	१७
२३ कौन कौन तुम परिहृत वसना	५६
२४ कौन तुम अतुल अरूप अनाम	१०९
२५ कौन तुम रूपसि कौन	१६३
२६ क्या मेरी आत्मा का चिर धन	१७९
२७ खोलो मुख से घूँघट खोलो	२३८
२८ गा, कोकिल	२२८
२९ घने लहरे रेशम के बाल	८०
३० चित्रकार क्या करुणा कर	२४
३१ चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय	२२१
३२ चंचल पग दीप शिखा के घर	२४०
३३ छोड़ द्रुमों की मृदु छाया	१२
३४ जग के उर्वर आँगन में	१६६
३५ जग के दुख दैन्य शयन पर	१९२
३६ जग जीवन नित नव नव	२१९
३७ जगमग जगमग	२०७
३८ जब मिलते मौन नयन	२०५
३९ जीवन का श्रम ताप हरो	२०३
४० जीवन के सुखमय स्पर्शों सी	२११
४१ जीवन चल जीवन कल	२०८
४२ झर पड़ता जीवन डाली से	२३५
४३ डम डम डम डमरु स्वर	२२४

पंक्ति	पृष्ठ
४४ तप रे मधुर मधुर मन	१७०
४५ तुम चंद्र वदनि	२०४
४६ तुम नील वृंत पर नभ के	२२५
४७ तुम मांस हीन तुम रक्त हीन	२५४
४८ तुम्हारी आँखों का आकाश	१५१
४९ तुहिन विन्दु बन कर	४
५० तेरा कैसा गान	१४१
५१ देखूँ सब के उर की डाली	१७४
५२ द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र	२२७
५३ द्वाभा के एकाकी प्रेमी	२३७
५४ नवल मेरे जीवन की डाल	१५३
५५ निखिल कल्पनामयि अथि अप्सरि	१९४
५६ नीरव संध्या में प्रशांत	१८१
५७ नीले नभ के शतदल पर	१८८
५८ न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर	२२०
५९ प्रथम रश्मि का आना	२१
६० प्राण, तुम लघु लघु गात	१६५
६१ प्रिये, प्राणों को प्राण	१४४
६२ बड़ा और भी तो अंतर	६
६३ बना मधुर मेरा जीवन	१९
६४ बालक के कंपित अधरों पर	२९
६५ बौंसों का झुरमुट	२३३
६६ मा, अल्मोड़े में आये थे	१०

पंक्ति	पृष्ठ
६७ मा, काले रँग का दुकूल नव ...	९
३८ मा, मेरे जीवन की हार ...	१
६९ मिट्टी का गहरा अंधकार ...	२५२
७० मुसकुरा दी थी क्या तुम प्राण ! ...	१५०
७१ मृदु तन हम मधु बाल ...	१६७
७२ मेरे मानस का आवेश ...	२
७३ मैं नहीं चाहता चिर सुख ...	१७२
७४ मंगल चिर मंगल हो ...	२२६
७५ मंजरित आम्र वन छाया में ...	२४४
७६ यह कैसा जीवन का गान ...	९३
७७ यह चरित्र मा जो तूने ...	११
७८ लाई हूँ फूलों का हास ...	१३९
७९ लो, जग को डालो डाली पर ...	२१८
८० वन वन उपवन ...	१६८
८१ वह मधुर मधुमास था ...	३६
८२ वह विजन चाँदनी की घाटी ...	२४३
८३ विद्रुम औ' मरकत की छाया ...	२४२
८४ वे चहक रहीं कुंजों में ...	२३१
८५ वे डूब गए सब डूब गए ...	२३०
८६ शांत सरोवर का डर ...	१७१
८७ शांत स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल ...	१८४
८८ शिशुओं के अविकच डर में ...	२१७
८९ सर सर मर म ...	२१०

पक्ति		पृष्ठ
९० सिखादो ना हं मधुप कुमारि !	...	९१
९१ सिसकते अस्थिर मानस से	...	६२
९२ सुखमा की जितनी मधुर कली	...	२०६
९३ सुरपति के हम ही हैं अनुचर	...	८२
९४ सुंदर मृदु मृदु रज का तन	...	१९३
९५ सुंदर हैं विहग सुमन	...	२४९
९६ सोओ सोओ तात !	...	२२२
९७ स्तब्ध ज्योत्स्ना में	...	१११
९८ हम कोमल सलिल हिलोर	...	२१५
९९ हम चिर अदृश्य नभचर	...	२१४
१०० हम मारुत के मधुर झकोर	...	९५
१०१ हाय, मृत्यु का ऐसा अमर	...	२३२

पह्लविनी

विनय

मा ! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय हार हो ,
अश्रुकणों का यह उपहार ,
मेरे सफल श्रमों का सागर
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार !

मेरे भूरि दुखो का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो ,
तेरी आशा का शृंगार ,
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
मा ! तेरी निर्भयता हों नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारंबार !

अभिलाषा

मेरे मानस का आवेश ,
तेरी करुणा का उन्मेष ,
भीरु घनो सा गरज गरज कर
इसको बिखर न जाने दे !
निज चरणो मे पिघल पिघल कर
स्नेह अश्रु बरसाने दे !

भव्य भक्ति का भावन मेल ,
तेरा मेरा मंजुल' खेल ,
सघन हृदय में विद्युत सा जल ,
इसे न मा ! बुझ जाने दे !
मलिन मोह की मेघ निशा मे ।
दिव्य विभा फैलाने दे !

विश्व प्रेम का रुचिकर राग ,
 पर सेवा करने की आग ,
 इसको संध्या की लाली सी ,
 मा ! त मंद पड़ जाने दे ।
 द्वेष द्रोह को सांध्य जलद सा ,
 इसकी छटा बढ़ाने दे !

आकांक्षा

तुहिन विन्दु बनकर सुदर ,
कुमुद किरण से सहज उतर ,
मा ! तेरे प्रिय पद पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ—
इस ऊषा की लाली में !

तरल तरंगों में मिलकर ,
उछल उछलकर, हिल हिल कर ,
मा ! तेरे दो श्रवण पुटों में
निज क्रीडा कलरव भर दूँ—
उमर अधखिली बाली में !

रजत रेत बन, कर झलमल ,
तेरे जल से हो निर्मल ,
माया सागर में डूबों का
मोख मोख गति रस हर दूँ—
ओष भरी दोपहरी में !

बन मरीचिका सी चंचल ,
जग की मोह तृषा को छल ,
सूखे मरु में मा ! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ—
यौवन मद की लहरी में !

विटप डाल में बना सदन ,
पहन गेरुवे रंगे वसन ,
विहग बालिका बन, इस वन को
तेरे गीतो मे भर दूँ—
मध्या के उस शांत समय

कुमुद कला बन कल हासिनि ,
अमृत प्रकाशिनि, नभ वासिनि ,
तेरी आभा को पाकर मा
जग का निमिर त्रास हर दूँ—
नीरव रजनी में निर्भय ।

अंतर

बढ़ा और भी तो अंतर !
जिनको तूने सुखद सुगमि दी ,
मा ! जिनको छबि दी सुंदर ,
तैं उनके ढिग गई व्यग्र हो ,
के ढूँढने को सत्वर !

मधु बाला बन मैंने उनके
गाए गीत, गूँज मृदुतर ,
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गई मोहित होकर !

काला बादल

काला तो यह बादल है !
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है ,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा !
काला तो यह बादल है !

मेरा मानस तो शशि हासिनि !
तेरी क्रीड़ा का स्थल है ,
तेरे मेरे अंतर मे मा !
काला तो यह बादल है !

तेरी किरणों से ही उतरा
मोती सा शुचि हिमजल है ,
मा ! इसको भी छू दे करसे
काला जो यह बादल है ।

गल्लविनो

तब तू दसगा गरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है ,
जब दुग जल बन वह जावेगा
काला जो यह बादल है !

१९१८]

कृष्णा

“मा ! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुंदर ,
जिसमें सब कुछ छिप जाता है ,
रहती नहीं धूलि की डर ;
जिसमें चिह्न नहीं पड़ते, जो
नहीं दीखता है श्री हीन ,
लोग नहीं तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ’ दीन !”

“अरी, अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे ! निरी अबोध, चपल ,
मैं मलमल की साड़ी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्वल ;
दिखलाई दें जिसमें सबको
तेरे छोटे से भी अंक ,
बार बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध औ’ स्वच्छ, सशंक !”

१९१८]

श्राशंका

“मा ! अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानंद ,
तब मग में मखमल बिछवाया ,
दीपावलि की विपुल अमंद ;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा !
मंद दृष्टि कुछ रखते हैं ?”

“कृष्णे ! स्वामी जी दो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय ,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय ;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के ,
स्वामी जी तो प्रभावान हैं ,
वे प्रदीप थे पूजन के !”

निवेदन

यह चरित्र, मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख ,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
तुझको इसमें भी है सुख !
वह बेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय में मौन ,
पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के वन में
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !
तू कितनी प्यारी है तुझको
जननि, कौन जाने इसको ,
यह जग का सुख जग को दे दे ,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

१९१८]

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया ,

तोड़ प्रकृति से भी माया ,

बाले ! तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?

भूल अभी से इस जग को !

तजकर तरल तरंगों को ,

इंद्रधनुष के रंगों को ,

तेरे भ्रू भगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन ?

भूल अभी से इस जग को !

कोयल का वह कोमल बोल ,

मधुकर की वीणा अनमोल ,

कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भरलूँ सजनि ! श्रवण ?

भूल अभी से इस जग को !

ऊषा सस्मित किसलय दल ,

सुधारश्मि से उतरा जल ,

ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला लूँ जीवन ?

भूल अभी से इस जग को !

कृषकबाला

उस सीधे जीवन का श्रम

हेम हास से शोभित है नव

पके धान की डाली में,—

कटनी के घूँघुर रुन भुन

(बज बज कर मृदु गाते गुन,)

केवल श्रान्ता के साथी है

इस ऊषा की लाली में !

मा ! अपने जन का पूजन

ग्रहण करो 'पत्रं , पुष्पम्' ,

सरल नाल सा सीधा जीवन

स्वर्ण मंजरी से भूषित ,

बाली से श्रृंगार तुम्हारा

करता है वय बाली मे !

पल्लविनी

सास-ननद भय, भूख अजय ,
श्रान्ति, अलस औ' श्रम अतिशय ,
तथा काँस के नव गहनों से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली मे !

अंधकार के प्रति

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अंधकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो ,
किसे छिपाये हो छबिमान !
मेरे स्वागत भरे हृदय में
प्रिय तम ! आओ, पाओ स्थान !

जब तुम मुझे गभीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नही प्रमाण !

पल्लविनी

प्रथम रश्मि का स्पर्शन कर नित ,
स्वर्ण वस्त्र करके परिधान ,
तुम आश्वासन देते हो, प्रिय !
जग को उज्ज्वल और महान !

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गई जलाने निज अज्ञान ,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाए हुए सुखद सम्मान ,
अपने काले पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर, मान ,
रंग रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण !

छाया

कौन कौन तुम परिहृत वसना ,
म्लान मना, भू पतिता सी ?
धूलि धूसरित, मुक्त कुंतला ,
किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि ! ध्यान में अब आया ,
तुम इस तरुवर की छाया हो ,
मैं उनके पद की छाया !

विजन निशा में सहज गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के ,
आनंदित होती हो सखि ! नित
उसकी पद सेवा करके !
और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि दिन वन वन ,
ही सुनाई देती फिर भी
ह वंशी ध्वनि मन मोहन !

पल्लविनी

सजनि ! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल करके ,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो ,
मनस्ताप मेरा हरके !

विहग बाला के प्रति

अँगड़ाते तम में

अलसित पलकों से स्वर्ण स्वप्न नित
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित ,
नव, अलभ्य, अज्ञात !

आओ, सुकुमारि विहग बाले !
अपने कलरव ही से कोमल
मेरे मधुर गान में अविकल
सुमुखि ! देखलो दिव्य स्वप्न सा
जग का नव्य प्रभात !

है स्वर्ण नीड़ मेरा भी जग उपवन में ,
में खग सा फिरता नीरव भाव गगन में ;
उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में ,
चुगता हूँ गाने बिखरे तून में, कन में !
कल कंठिनि ! निज कलरव में भर ,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन वन, घर घर ,
नाचें तृण, तरु, पात !

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया, तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर ,
भ्रूम रहे थे, घूम द्वार पर ,
प्रहरी से जुगनूँ नाना !
शशि किरणों से उतर उतरकर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेह हीन तारों के दीपक ,
श्वास शून्य थे तरु के पात ,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में ,
तम ने था मंडप ताना !

पल्लविनी

बूक उठी महसा तर वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना ,
किसने तुझको अंतर्यामिनी !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन ,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना !
छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री हीन ,
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि ,
कोक शोक से दीवाना !
मूर्छित थीं इंद्रियाँ, स्तब्ध जग ,
जड़ चेतन सब एकाकार ,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना !

तूने ही पहले बहु दर्शिनि !
गाया जागृति का गाना ,

प्रथम रश्मि

श्री सुख सौरभ का नभ चारिणि !

गूँथ दिया ताना बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुंज में हो साकार ,
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना !
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल ,
सुप्त समीरण हुआ अधीर ,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना !
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि ,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल ,
स्पंदन कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाता ;

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !

तूने कैसे पहचाना ?

कहाँ कहाँ हे बाल विहगिनि !

पाया यह स्वर्गिक गाना ?

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अचल में
चित्रित कर दोगे पावन ?
आज परीक्षा तो लो अपनी
कुशल लेखनी की ब्रह्मन् !
उसे याद होगा वह अपने
उर का उज्ज्वल भाव रतन !

जब कि कल्पना की तंत्री में
खेल रहे थे तुम करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट झंकार ?
हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल ,
अनिल, अनल नभ से उस बार
एक बालिका के क्रंदन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार !

वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज में लिपटी रहती थी नित ,
मधुबाला की सी गुंजार ;
यौवन के मादक हाथों ने
उस कलिका को खोल अजान ,
छीन लिया हा ! ओस बिन्दु सा
मेरा मधुमय, तुतला गान !

अहो विश्वसृज ! पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा संगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत !

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
क्लित कल्पनामय संसार ,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार ;

पल्लविनी

सरिता के चिकने उपलो सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन ,
वह अजानता की सुंदरता ,
वृद्ध विश्व का रूप नवीन ;

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान ,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु मुसकान !

मेरा चिन्ता रहित, अनलसित ,
वारि बिम्ब सा विमल हृदय ,
इंद्रचाप सा वह बचपन के
मृदुल अनुभवों का समुदय ;
सांध्य गगन सा, स्वर्ण ज्योति से
आलिङ्गित जग का परिंचय ,
इंद्रु विचुंबित बाल जलद सा
मेरी आशा का अभिनय ;

इस अभिमानी अंचल में फिर
अंकित करदो, विधि ! अकलंक

मेरा छीना बालापन फिर
करुण ! लगादो मेरे अंक !

विहग बालिका का सा मृदु स्वर ,
अर्धखिले, नव कौमल अंग ,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की ,
वह मेरी आनंद उमंग ;

अहो दयामय ! फिर लौटादो
मेरी पद प्रिय चंचलता ,
तरल तरंगों सी वह लीला ,
निर्विकार भावना लता !

धूलभरे, घुँघराले, काले ,
भय्या को प्रिय मेरे बाल ,
माता के चिर चुंबित मेरे
गोरे, गोरे, सस्मित गाल ;
वह काँटों में उलझी साड़ी ,
मंजुल फूलों के गहने ,
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्र हीन संकोच सने ;

पल्लविनी

उसी सरलता की स्याही से
सदय ! इन्हें अंकित कर दो ,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो !

हा, मेरे बचपन-से कितने
बिखर गए जग के शृंगार !
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालंकार ;
जिनकी निर्भयता विभूति थी ,
सहज सरलता शिष्टाचार ,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार !

—हे विधि ! फिर अनुवादित करदो
उसी सुधा स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय उर से मेरे
जीवन का तुतला उपक्रम !

स्वप्न

बालक के कंपित अधरों पर
किस अतीत स्मृति का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह रह उपहास ?
उस स्वप्नों की स्वर्ण सरित का
सजनि ! कहाँ शुचि जन्मस्थान ,
मुसकानों में उछल उछल मृदु ,
बहती वह किस ओर अजान ?

किन कर्मों की जीवित छाया
उस निद्रित विस्मृति के संग
आँखमिचौनी खेल रही वह ,
किन भावों की गूढ़ उमंग ?
मुँदे नयन पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र
गुप्त वंचना के मादक कर
खीच रहे सखि ! स्वर्ण विचित्र ?

पल्लविनी

निद्रा के उस अलसित वन मे
वह क्या भावी की छाया
दृग पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया ?
नयन नीलिमा के लघु नभ में
अलि ! किस सुखमा का ससार
विरल इंद्रधनुषी बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार ?

मुकुलित पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इंद्रजाल सा गूँथ रहा नव ,
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग ?
किन इच्छाओं के पंखों में
उड़ उड़ ये आँखें अनजान
मधुबालों सी, छाया वन की
कलियों का मधु करतीं पान ?

मानस की सस्मित लहरों पर
किस छबि की किरणें अज्ञात

रंजत स्वर्ण में लिखतीं अविदित
 तारक लोकों की शुचि बात ?
 किन जन्मों की चिर संचित सुधि
 बजा सुप्त तंत्री के तार ,
 नयन नलिन में बँधी मधुप सी
 करती मर्म मधुर गुंजार ?

पलक यवनिका के भीतर छिप ,
 हृदय मंच पर छा छबिमय ,
 सजनि ! अलस के मायावी शिशु
 खेल रहे कैसा अभिनय ?
 मीलित नयनों का अपना ही
 यह कैसा छायामय लोक ,
 अपने ही सुख दुख, इच्छाएँ ,
 अपनी ही छबि का आलोक !

मौन मुकुल में छिपा हुआ जो
 रहता विस्मय का संसार
 सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
 वह किसका शुचि शयनागार ?

पल्लविनी

प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का
रहता चिर अविकच, अज्ञान ,
जिसे नहीं चिन्ता छू पाती ,
जो केवल मृदु अस्फुट गान !

जब शशि की शीतल छाया में
रुचिर रजत किरणे सुकुमार
प्रथम खोलती नव कलिका के
अन्त.पुर के कोमल द्वार ,
अलिबाला से सुन तब सहसा ,—
'जग है केवल स्वप्न असार' ,
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार !

हिमजल बन, तारक पलकों से
उमड़ मोतियों से अवदात ,
सुमनों के अधखुले दृगों में
स्वप्न लुङकते जो नित प्रात ;
उन्हें सहज अंचल में चुन चुन ,
गूँथ उषा किरणों में हार

क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृंगार ?

विजन नीड़ में चौंक अचानक ,
विटप बालिका पुलकित गात
जिन सुवर्ण स्वप्नों की गाथा
गा गा कर कहती अज्ञात ;
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप ,
दीप शलभ दीपों को चमका
करते जो मृदु मौनालाप ?

अलि ! किस स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात ,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नों की रात ?
दिनकर की अन्तिम किरणों ने
उस नीरव तरु के ऊपर
स्वप्नों का जो स्वर्ण जाल है
फैलाया सुखमय, सुंदर ;

पल्लविनी

विहग बालिका बन हम दोनों ,
बैठ वहाँ पल भर एकांत ,
चल सखि ! स्वप्नों पर कुछ सोचें ,
दूर करें निज भ्रांति नितांत !

सजनि ! हमारा स्वप्न सदन क्यों
सिहर उठा सहसा थर् थर् !
किस अतीत के स्वप्न अनिल में
गूँज उठे, कर मृदु मर् मर् !
विरस डालियों से यह कैसा
फूट रहा हा ! रुदन मलिन ,—
'हम भी हरी भरी थीं पहिले ,
पर अब स्वप्न हुए वे दिन !'

पत्रों के विस्मित अधरों से
संसृति का अस्फुट संगीत
मौन निमंत्रण भेज रहा वह ।
अंधकार के पास सभीत !
सघन द्रुमों में भ्रूम रहा अब
निद्रा का निःश्वास ,

मूंद रहा घन अंधकार में
रह रह अलस पलक आकाश !

जग के निद्रित स्वप्न सजनि ! सब
इसी अंध तम में बहते ,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही में रहते !
अह, किस गहरे अंधकार में
डूब रहा धीरे संसार ,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार !
अलि ! क्या कहती है, प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
पर, मेरे तम पूर्ण हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत प्रकाश !

नवम्बर, १९१९]

ग्रंथि

वह मधुर मधुमास था, जब गंध से
मुग्ध होकर भूमते थे मधुप दल ;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे ,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से !
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थी मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से !

अस्तमित निज कनक किरणों को तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण सा

अरुण आभा में रँगा था वह पतन
 रजकणों सी वासनाओं से विपुल !
 तरणि के ही सग तरल तरंग से
 तरणि डूबी थी हमारी ताल में ;
 सांध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
 था हमारा विश्व तन्मय हो गया !

बुद्बुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
 गा रहे थे राग जीवन का अचिर ,
 अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में
 हृदय की लहरें हमारी सो गईं !

× × × ×

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
 (कौन जाने, किस तरह ?) पीयूष सा
 एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
 पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा !
 शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर ,
 शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो

पल्लविनी

देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल ,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से !

इंदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से ,
लाज से रक्तिम हुए थे ;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में ;
अचल, रेखाकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य मे !

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे ,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय संबंध था !
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से ,
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से !

(इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
 घूम फिर कर, नाव-से किसके नयन
 हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
 भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के ?)
 सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
 क्या उषामय का पुनः कहना भला ?
 लालिमा ही से नहीं क्या टपकती
 सेब की चिर सरसता, सुकुमारता ?
 पद नखों को गिन, समय के भार को
 जो घटाती थी भुलाकर, अवनितल
 खुरच कर, वह जड़ पलों की घृष्टता
 थी वहाँ मानो छिपाना चाहती !

× × × ×

इंदु की छबि में, तिमिर के गर्भ में,
 अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीच में,
 एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
 सुमन की स्मिति में, लता के अधर में !

पल्लविनी

निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा ,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी !
प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
तरमता था, अब उसे तर सलिल में
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल पल विकल थी कर रही !
रसिक वाचक ! कामनाओं के चपल ,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम की
कृपण बीथी में विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला ?

× × × ×

हाँ, तरणि थी मग्न जब मेरी हुई
(सरस मोती के लिए ही ?) उस समय
छलकता था वक्ष मेरा स्फीति से ,
मुग्ध विस्मय से, अतृप्त भुलाव से !

बाल्य की विस्मय भरी आँखें, मृदुल
कल्पना की कृश लटों में उलझ के
रूप की सुकुमार कलिका के निकट
भूम, मँडराने लगी थी घूम कर !
चपल पलकों में छिपे सौन्दर्य के
सहज दब कर, हृदय मादकता मिली
गुदगुदी के स्निग्ध पुलकित स्पर्श को
समुत्सुक होने लगा था प्रतिदिवस !

दृष्टिपथ पर दूर अस्फुट प्यास सी
खेलती थी एक रजत मरीचिका ,
शरद के बिखरे सुनहले जलद सी
बदलती थी रूप आशा निरंतर !
अह, सुरा का बुलबुला यौवन, घवल
चंद्रिका के अधर पर अटका हुआ ,
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद सा है सहज ले जाता उड़ा !

×

×

×

×

पल्लविनी

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बंधन हो गया, वह नव कमल
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया !
पाणि ! कोमल पाणि ! निज बंधूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः ?

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ीं ? जो हृदय को ,
याद आते ही, विकल संगीत में
बदल देती हैं भुलाकर, मुग्ध कर !
याद है मुझको अभी वह जड़ समय
व्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं से तारकों को विजन में
गिन रहा था, व्यस्त हो, उद्भ्रांत हो !

हाय रे मानव हृदय ! तुझसे जहाँ
 बज्र थी भयभीत होता है, वहीं
 देख तेरी मृदुलता तिल सुमन भी
 संकुचित हो, सहंम जाता है सदा !
 ग्रंथि बंधन ! — इस सुनहली ग्रंथि में
 स्वर्ग की औ' विश्व की मंगलमयी
 जो अनोखी चाह, जो उन्मत्त धन
 है छिपा, वह एक है, अनमोल है !

शैवलनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से ,
 अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को ,
 चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर ,
 उड़गणो ! गाओ, पवन वीणा बजा !
 पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है ,
 उठ, किसी निर्जन विपिन मे बैठ कर
 अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
 भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी !

पल्लविनी

देख रोता है नकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो !

× × × ×

छिः सरल सौन्दर्य ! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ' नादान हो ! सुकुमार, यों
पलक दल में तारकों में, अधर में
खेल कर तुम कर रहे हो हाय ! क्या ?
जानते हो क्या ? सुकोमल गाल पर
कृश अँगुलियों पर, कटी कटि पर छिपे ,
तुम मिचौनी खेल कर कितना गहन
घाव करते हो सुमन-से हृदय में !

औ' अकेले चिबुक तिल से, कुछ उठी
कुछ गिरी भ्रू वीचि से, कुछ कुछ खुली
नयनता से, कुछ रुकी मुसकान से
छीनते किस भाँति हो तुम धैर्य को ?

मुकुल के भीतर उषा की रश्मि से
जन्म पा, मधु की मधुरता, धूलि की
मृदुलता, कटु कंटकों की प्रखरता ,
मुग्धता ली मधुप की तुमने चुरा !

और, भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज-से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो ,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं ,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीन कर ,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में !

स्मृति ! यदपि तुम प्रणय की पद चिह्न हो ,
पर निरी हो बालिका—तुम हृदय को
गुदगुदाती हो, तरल जल बिम्ब सी
तैरती हो, बाल क्रीड़ा कर सदा !

पल्लविनी

नियति ! तुम निर्दोष और अच्छूत हो ,
सहज हो सुकुमार, चकई का तुम्हें
खेल अति प्रिय है सतत कृश सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय सा !
मंजु छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल पत्रों से टपकती है जहाँ ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदल कर ,
सुघर मोती-से पदों से ओस के !

अमृत आशा ! चिर दुखी की सहचरी
नित नई मिति सी, मनोरम रूप सी ,
विभव वंचित, तृषित, लालायित नयन
देखते हैं सदय मुख तेरा सदा !

देवि ! ऊषा के खिले उद्यान में
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथ कर ,
रेणु की साड़ी पहन, चल तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को !

मेघ-से उन्माद ! तुम स्वर्गीय हो ,
 कुमुद कर से जन्म पा, तुम मधुप के
 गीत पीकर मत्त रहते हो सदा ,
 मौन चिर अनिमेष निर्जन पुष्प से !

आह ! —सूखे आँसुओं की कल्पना ,
 कोहरे सी मुक्त नभ में झूम कर ,
 दग्ध उर का भार हर, तुम जलद सी
 बरसती हो स्वच्छ हलकी शांति में !
 अश्रु,—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
 नयन के नादान शिशु ! इस विश्व मे
 आँख हैं सौन्दर्य जितना देखती
 प्रतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं !

अश्रु ! —दिल की गूढ़ कविता के सरल
 औ' सलोने भाव ! माला की तरह
 विकल पल में पलक जपते हैं तुम्हें ,
 तुम हृदय के घाव धोते हो सदा !

पल्लविनी

वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो ,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो ,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना ,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें !

वेदना ! —कैसा करुण उद्गार है !
वेदना ही है अखिल ब्रह्मांड यह ,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में ,
तारकों में, व्योम में है वेदना !
वेदना ! —कितना विशद यह रूप है !
यह अंधेरे हृदय की दीपक शिखा !
रूप की अंतिम छटा ! इस विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी !

कौन दोषी है ! यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है—विश्व का
नियम है यह; रो अभागे हृदय रो !!

× × × ×

कौन बह बिछुड़े दिलों की दुर्दशा
 पोंछ सकता है ? दृगों की बाढ़ में
 विकल, बिग्नरे, बुदबुदों की बूड़ती
 मौन आहें हाय ! कौन समझ सका !
 शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
 विरह ! —अहह, कराहते इसशब्द को
 किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंकसे
 निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

× × × ×

प्रेम वंचित को तथा कंगाल हो ,
 है कहाँ आश्रय ! विरह की वल्लि में
 भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा !
 होगई परिणत विरति सी शक्ति में !
 सुहृद्वर ! कंगाल, कृश कंकाल सा ,
 भैरवी से भी सुरीला है ! अहा !
 किस गहनता के अधर से फूट कर
 फैलते है शून्य स्वर इसके सदा !

अल्लविनी

आज मैं कंगाल हूँ—क्या यह प्रथम
आज मैंने ही कहा ? जो हृदय ! तुम
बह रहे हो मुक्त हलके, मोद में
भूल कर दुर्दैव के गुरु भार को ।
मैं अकेला विपिन में बैठा हुआ
सीचता हूँ विजनता से हृदय को ।
और उसकी भेदती कृश दृष्टि से
ढूँढता हूँ विश्व के उन्माद को ।

विश्व,—यह कैसी मनोहर भूल है !
मधुर दुर्बलता !—कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड़, लीला के लिए ,
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?
कौन सी ऐसी परम वह वस्तु है
भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए ?
कौन सा ऐसा चरम सौन्दर्य है
खींचता है जो जगत के हृदय को ?

आह, उस सर्वोच्च पद की कल्पना
 विश्व का कैसा उपल उन्माद है !
 यह विशाल महत्त्व कितना रिक्त है ,
 विपुलता कितनी अबल, असहाय है !
 कौन सी ऐसी निरापद है दशा -
 लोग अभ्युत्थान कहते है जिसे ?
 पतन, इसमें कौन सा अभिशाप है
 जो कँपाता है जगत के धैर्य को ?

निपट नग्न निरीहता को छोड़कर
 कौन कर सकता मनोरथ पूर्ति है ?
 कौन अज्ञ दरिद्रता से अधिकतर
 शक्तिमय है, श्रेष्ठ है, संपन्न है ?
 सौख्य ? यह तो साधना का शत्रु है ,
 रिक्त, कुंठित क्षीणता है शक्ति की ;
 हा ! अलस के इस अपाहिज स्वांग में
 हो गई क्यों मग्न जग की गहनता !

पल्लविनी

ज्ञान ? यह तो इंद्रियो की श्रांति है ,
शून्य जृम्भा मात्र ' निद्रित बुद्धि की ;
जुगनुओं की ज्योति से, वन में विजन ,
जन्म पीपल के तले इसका हुआ !
वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना ही का मनोहर रूप है ,
वेदना ही का स्वतंत्र विनोद है !

वेदना से भी निरापद क्या कहा
और कोई शरण है संसार में ?
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का ?
कर्म के किस जटिल विस्तृत जाल में
है गुँथी ब्रह्मांड की यह कल्पना !
योग बल का अटल आसन है अड़ा
वेदना के किस गहन स्तर में अहा !

आज मैं सब भाँति सुख संपन्न हूँ
वेदना के इस मनोरम विपिन में ;
विजन छाया में द्रुमों की, योग सी ,
विचरती है आज मेरी वेदना !
विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा ;
ललित लतिका के विकंपित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना !

ओस जल-से सजल मेरे अश्रु है
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े !
पवन पीले पात में मेरा विरह
है खिलाता, दलित मुरझे फूल सा !
सुमन दल में फूट, पागल सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हँस रही है, मुकुल में
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा !

पल्लविनी

गर्व सा गिर उच्च निर्भर स्रोत से
स्वप्न सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र सा ,
वात सा, भूकम्प सा, उत्पात सा !
तारकों के अचल पलकों से विपुल
मौन विस्मय छीन कर मेरा पतन
निर्निमेष विलोकता है विश्व की
भीरता को चंद्रमा की ज्योति में !

तिमिर के अज्ञात अंचल में छिपी
शूमती है भ्रांति मेरी अमर सी ,
चंद्रिका की लहर में है खेलती
भग्न आशा आज शत शत खंड हो !
तिमिर ! —यह क्या विश्व का उन्माद है,
जो छिपाता है प्रकृति के रूप को ?
या किसी की यह विनीरव आह है
खोजती है जो प्रलय की राह को !

या किसी के प्रेम वंचित पलक की
 मूक जड़ता है ? पवन में विचर कर ,
 पूछती है जो सितारों से सतत—
 'प्रिय ! तुम्हारी नीद किसने छीन ली ?'
 यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
 सिन्धु है क्या ? जो दुखों की बाढ में
 सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
 उमड़ता है एक नीरव लहर में !

आह, यह किसका अंधेरा भाग्य है ?
 प्रलय छाया सा, अनंत विषाद सा !
 कौन मेरे कल्पना के विपिन में
 पागलो सा यह अभय है घूमता ?
 हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
 धूम ही है शेष अब जिसमें रहा !
 इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
 बदन ढँकने के लिए क्यों व्यग्र है !

छाया

कौन, कौन तुम परिहृत वसना ,
म्लान मना, भू पतिता सी ,
वात हता विच्छिन्न लता सी ,
रति श्रांता व्रज वनिता सी ?
नियति वंचिता, आश्रय रहिता ,
जर्जरिता, पद दलिता सी ,
धूलि धूसरित मुक्त कुंतला ,
किसके चरणों की दासी ?

कहो, कौन हो दमयंती सी
तुम द्रुम के नीचे सोई !
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी ,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह मलिन, दुख विधुरा सी ?

पल्लविनी

क्या तुम छिप कर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?
सखि ! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल ,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रसुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख दुख के गान ,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?
कभी लोभ सी लंबी होकर ,
कभी तृप्ति सी होकर पीन ,
तुम संसृति की अचिर भूति या
सजनि, नापती हो स्थिति-हीन ?

कालानिल की कुंचित गति से
बार बार कंपित होकर ,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर ,
भग्न भावना, विजन वेदना
विफल लालसाओं से भर ?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति !
कंपित अधरों से अनजान
मर्म मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान ?
ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया तन, छाया लोक ,
मुझको भी दे दो मायाविनि !
उर की आँखों का आलोक !

थके चरण चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर ,
दिखा रही हो क्या तुम जग को
पर सेवा का मार्ग अमर ?
श्रमित तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन ?

पल्लविनी

ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !
विश्व वेदना में तल्लीन ।

दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा ,
बढ़ कर नित तख्तर के संग ,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अंग ;
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार ,
पर सेवा रत रहती हो तुम ,
हरती हो पथ श्रान्ति अपार !

हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर !
चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर ,
होने दो अपने में लीन ,

पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद हीन !

× × × ×

गाओ गाओ, विहग बालिके !
तरुवर से मृदु मंगल गान ,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान !
—हाँ, सखि, आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ालें प्राण ,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान !

दिसम्बर, १९२०]

उच्छ्वास

(सावन भादों)

(सावन)

सिसकते, अस्थिर मानस से

बाल बादल सा उठकर आज

सरल, अस्फुट उच्छ्वास !

अपने छाया के पंखों में

(नीरव घोष भरे शंखों में)

मेरे आँसू गूँथ, फैल गंभीर मेघ सा ,

आच्छादित कर ले सारा आकाश !

मंद, विद्युत सा हँसकर ,

बज्र सा उर में धँसकर

गरज, गगन के गान ! गरज गंभीर स्वरों में ,

भर अपना संदेश उरों में, औ' अधरों में ;

बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में ,

हर मेरा संताप, पाप जग का क्षणभर में !

हृदय के सुरभित साँस !

जरा है आदरणीय ,

सुखद यौवन ? विलास उपवन रमणीय ,

शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल, कमनीय ;

—बालिका ही थी वह भी !

सरलपन ही था उसका मन ,

निरालापन था आभूषण ,

कान से मिले अजान नयन ,

सहज था सजा सजीला तन !

रँगीले, गीले फूलों-से

अधखिले भावों से प्रमुदित

बाल्य सरिता के कूलों से

खेलती थी तरंग सी नित !

—इसी में था असीम अवसित !

मधुरिमा के मधुमास !

मेरा मधुकर का सा जीवन ,

कठिन कर्म है, कोमल है मृदु ;

पल्लविनी

विपुल मृदुल सुमनों से सुराभित ,
विकसित है विस्तृत जग उपवन !

यही हैं मेरे तन, मन, प्राण ,
यही हैं ध्यान, यही अभिमान ;
धूलि की डेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान !

कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर ,
जटिल तरु जाल घिरे चहुँ ओर ,
सुमन दल चुन चुन कर निशिभोर
खोजना है अजान वह छोर !

—नवल कलिका थी वह !
उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया ,
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया !
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता, अपनाया ;

बहु नवल भावनाओं का
 उसमें पराग था पाया !
 मैं मंद हास सा उसके
 मृदु अधरों पर मँडराया ;
 और उसकी सुखद सुरभि से
 प्रति दिन समीप खिंच आया !

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश ;
 पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश !

मेखलाकार पर्वत अपार
 अपने; सहस्र दृंग सुमन फाड़ ,
 अवलोक रहा है बार बार
 नीचे जल में निज महाकार ;

--जिसके चरणों में पला ताल
 दर्पण सा फैला है विशाल !

गिरि का गौरव गाकर झर झर
 मद से नस नस उत्तेजित कर
 मोती की लड़ियों से सुन्दर
 झरते हैं झाग भरे निर्झर !

पल्लविनी

गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर ,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !
रव-शेष रह गए है निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुँआ, जल गया- ताल
—यों जलद यान में विचर, विचर ,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर !)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी ;
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

(भादों)

दीप के बचे विकास !

अनिल सा लोक लोक में ,
हर्ष में, और शोक में ,
कहाँ नहीं है प्रेम ? साँस सा सबके उर में !

यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास ,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकास
जरा का अंतर्नयन प्रकाश ;
जन्मदिन का है यही हुलास ,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास !

है यह वैदिक वाद ;
विश्व का सुख-दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद:—

गिरा हो जाती है सनयन ,
नयन करते नीरव भाषण ;
श्रवण तक आजाता है मन ,
स्वयं मन करता बात श्रवण !

पल्लविनी

अश्रुओं में रहता है हास ,
हास मे अश्रुकणों का भास ;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास ,
और उच्छ्वासों ही में श्वास !

बँधे हैं जीवन-तार ;
सब में छिपी हुई है यह झंकार !
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार !

अचल हो उठते हैं चंचल ,
चपल बन जाते हैं अविचल !
पिघल पड़ते हैं पाहन दल ,
कुलिश भी हो जाता कोमल !

मर्म पीड़ा के हास !

रोग का है उपचार ;
पाप का भी परिहार ;
है अदेह संदेह, नहीं है इसका कुछ संस्कार !
हृदय की है यह दुर्बल हार !!

खींचलो इसको, कही क्या छोर है !
 द्रौपदी का यह दुरंत दुकूल है !
 फैलता है हृदय में नभ बेलि सा ,
 खोजलो, इसका कही क्या मूल है ?

यही तो काँटे सा चुपचाप
 उगा उस तरुवर में,—सुकुमार
 सुमन वह था जिसमें अविकार—
 बेध डाला मधुकर निष्पाप !!
 प्रणय में दुर्बलता है शाप !!

देख हाय ! यह, उर से रह रह निकल रही है आह !
 व्यथा का रुकता नहीं प्रवाह !

सिड़ी के गूढ़ हुलास !

बीनते हैं प्रसून दल ,
 तोड़ते ही हैं मृदु फल ,
 देखा नहीं किसी को चुनते कोमल कोपल !!

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह ,
 लाज का भी न गया था राग ;

पल्लविनी

पड़ा पाला सा हा ! संदेह ,
कर दिया वह नव राग विराग !
मिले थे मानस नभ अज्ञात ,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर ;
अनिल सा कर अकरुण आघात ,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर !!

बालकों का सा मारा हाथ ,
कर दिए विकल हृदय के तार !
नहीं अब रुकती है भंकार ,
यही था हा ! क्या एक सितार ?

हुई मरु की मरीचिका आज ,
मुझे गंगा की पावन धार !

कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं यह हृदय हार !!!

× × × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
 सच नहीं होता सदा अनुमान है !
 कौन भेद सका अगम आकाश को ?
 कौन समझ सका उदधि का गान है ?
 है सभी तो ओर दुर्बलता यही ,
 समझता कोई नहीं—क्या सार है !
 निरपराधों के लिए भी तो अहा !
 बन गया संसार कारागार है !!

सितम्बर, १९२१]

आँसू
(भादों की भरन)

(१)

अपलक आँखों में

उमड़ उर के सुरभित उच्छ्वास !
सजल जलधर से बन जलधार ;
प्रेममय वे प्रिय पावस मास
पुनः नयनों में कर साकार ;
मूक कणों की कातर वाणी भर इनमें अविकार ,
दिव्य स्वर पा आँसू का तार
बहादे हृदयोद्गार !

विरह है अथवा यह वरदान !

कल्पना में है कसकती वेदना ,
अश्रु में जीता सिसकता गान है ;
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं ,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

आँसू

वियोगी होगा पहिला कवि ,
आह से उपजा होगा गान ;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान !

× × × ×

हाय, किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार !!

मेरा पावस ऋतु सा जीवन ,
मानस सा उमड़ा अपार मन ;
गहरे धुँधले, धुले, साँवले ,
मेघों-से मेरे भरे नयन !

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय !
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !

पल्लविनी

इंद्रधनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अच्छोर ,
कभी कुहरे सी धूमिल, घोर ,
दीखती भावी चारों ओर !
तड़ित सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर ,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर ,
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !

× × × ×

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को ;

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के

आँसू

प्रसूनों के ढिंग रुक कर

सरकती है सत्वर ;

अकेली आकुलता सी, प्राण !

कहीं तब करती मृदु आघात ,

सिहर उठता कृश गात ,

ठहर जाते हैं पग अज्ञात !

देखता हूँ जब पतला

इंद्रधनुषी हलका

रेशमी घूँघट बादल का

खोलती है कुमुद कला ;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान

मुझे करता तब अंतर्धान ;

न जाने तुमसे मेरे प्राण

चाहते क्या आदान !

×

×

×

×

बादलों के छायामय मेल

घूमते हैं आँखों में, फैल !

पल्लविनी

अवनि औ' अबर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल !

शिखर पर विचर मस्त रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर ,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !

पपीहों की वह पीन पुकार ,
निर्भरों की भारी भर् भर् ;
भीगुरों की भीनी भनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर ;
बिन्दुओं की छनती छनकार ,
दादुरों के वे दुहरे स्वर ;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल पावस के प्रश्नोत्तर !

(२)

करुण है हाय ! प्रणय ,
नही दुरता है जहाँ दुराव ;

करुणतर है वह भय ,
 चाहता है जो सदा बचाव ;
 करुणतम भग्न हृदय ,
 नहीं भरता है जिसका घाव ;
 करुण अतिशय उनका संशय ,
 छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव !!

किए भी हुआ कहाँ संयोग ?
 टला टाले कब इसका वास ?
 स्वयं ही तो आया यह पास ,
 गया भी, बिना प्रयास !

× × × ×

हाय ! मेरा जीवन ,
 प्रेम औ, आँसू के कन !
 आह, मेरा अक्षय धन ,
 अपरिमित सुंदरता औ' मन !

—एक वीणा की मृदु झंकार !
 कहाँ है सुंदरता का पार !

पल्लविनी

तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि !

दिखाऊँ मैं साकार ?

तुम्हारे छूने में था प्राण ,

संग में पावन गंगा स्नान ;

तुम्हारी वाणी मे कल्याणि !

त्रिवेणी की लहरों का गान !

अपरिचित चितवन में था प्रात ,

सुधामय साँसों में उपचार ;

तुम्हारी छाया में आधार ,

सुखद चेष्टाओं में आभार !

कैरुण भोंहों में था आकाश ,

हास में शैशव का संसार ;

तुम्हारी आँखों में कर वास

प्रेम ने पाया था आकार !

कपोलों में उर के मृदु भाव ,

श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव ;

सरल संकेतों में संकोच ,

मृदुल अधरों में मधुर दुराव !

आँसू

उषा का था उर में आवास ,
मुकुल का मुख मे मृदुल विकास ;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस !

बिंदु में थी तुम सिंधु अनंत ,
एक स्वर में समस्त संगीत ;
एक कलिका में अखिल वसंत ,
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत !

× × × ×

सुप्ति हो स्वल्प वियोग
नव मिलन को अनिमेष ,
दैव ! जीवन भर का विश्लेष . .

मृत्यु ही है निःशेष !!

× × × ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को ,
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को !
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य, पावन स्थान को !

दिसम्बर, १९२१]

नारी रूप

घने लहरे रेशम के बाल,—

धरा है सिर में मैने देवि !

तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार ,

स्वर्ण का सुरभित भार !

मलिन्दो से उलझी गुजार ,

मृणालों से मृदु तार ;

मेघ से संध्या का संसार ,

वारि से ऊर्मि उभार ;

—मिले हैं इन्हें विविध उपहार

तरुण तम से विस्तार !

तुम्हारे रोम रोम से नाश !

मुझे है स्नेह अपार ;

तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि !

मुझे है स्वर्गागार !

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान ,
 मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
 तुम्हारी पावनाता, अभिमान ,
 शक्ति, पूजन सम्मान,
 अकेली सुदरता कल्याणि !
 सकल ऐश्वर्यो की संधान !

तुम्ही हो स्पृहा, अश्रु औ' हास ,
 सृष्टि के उर की साँस;
 तुम्हीं इच्छाओं की अबसान ,
 तुम्ही स्वर्गिक आभास;
 तुम्हारी सेवा में अनजान
 हृदय है मेरा अंतर्धान;
 देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण !

मई, १९२२]

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर ,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना ,
चातक के चिर जीवनधर;
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर ,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर ,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक ,
कृषक बालिका के जलधर !

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से ,
फैला कोमल, रोमिल पंख ,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक !
विपुल कल्पमा-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक ,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते ,
छा अनंत उर में निःशंक !

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
 भू पर चरण नहीं धरते ,
 मत्त मतंगज कभी भूमते ,
 सजग शशक नभ को चरते ;
 कभी कीश-से अनिल डाल में
 नीरवता से मुँह भरते ,
 बृहत् गृद्ध-से विहग छदों को ,
 बिखराते नभ में तरते !

कभी अचानक, भूतों का सा
 प्रकटा विकट महा आकार ,
 कड़क, कड़क जब हँसते हम सब ,
 थर्रा उठता है संसार ;
 फिर परियों के बच्चों से हम
 सुभग सीप के पंख पसार ,
 समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में ,
 पकड़ इंद्र के कर सुकुमार !

अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु में
 प्रलय बाढ़ से चारों ओर

पल्लविनी

उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
बात बात में, तूल तोम सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस बातुल चोर !

व्योम विपिन में जब वसंत सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात ,
बहते हम तब अनिल स्रोत मे
गिर तमाल तम के से पात ,
उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात ,
फैल स्वर्ण पंखों से हम भी ,
करते द्रुत मारुत से बात !

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार—
काल चक्र-से चढ़ते, गिरते ,
पल में जलधर, फिर जलधार;

कभी हवा में महल बना कर ,
 सेतु बाँध कर कभी अपार ,
 हम विलीन हो जाते सहसा
 विभव भूति ही से निस्सार !

हम सागर के धवल हास है ,
 जल के धूम, गगन की धूल ,
 अनिल फेन, ऊषा के पल्लव ,
 वारि वसन, वसुधा के मूल ;
 नभ में अवनि, अवनि में अंबर ,
 सलिल भस्म, मारुत के फूल ,
 हम ही जल में थल, थल में जल ,
 दिन के तम, पावक के तूल !

व्योम बेलि, ताराओं की गति ,
 चलते अचल, गगन के गान ,
 हम अपलक तारों की तंद्रा ,
 ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान ;
 पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम ,
 सलिल अनल के विरल वितान ,

पल्लविनी

व्योम पलक, जल खग, बहते थल ,
अंबुधि की कल्पना महान !

× × × ×

धूम धुँआरे, काजर कारे ,
हम ही बिकरारे बादर ,
मदन राज के बीर बहादर ,
पावस के उड़ते फणिधर !
चमक झमकमय मंत्र वशीकर ,
छहर घहरमय विष सीकर ,
स्वर्ग सेतु-से इंद्रधनुषधर ,
कामरूप घनश्याम अमर !

अप्रैल, १९२२]

सोने का गान

कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि !

कहाँ से आया यह प्रिय गान ?

तुहिन वन में छाई सुकुमारि !

तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल सी तान !

उषा की कनक मंदिर मुसकान

उसी में था क्या यह अनजान ?

भला उठते ही तुमको आज

दिलाया किसने इसका ध्यान !

स्वर्ण पंखों की विहग कुमारि !

अमर है यह पुलकों का गान !

विटप में थी तुम छिपी विहान ,

विकल क्यों हुए अचानक प्राण !

छिपाओ अब न रहस्य कुमारि !

लगा यह किसका कोमल बाण ?

विजन वन मे तुमने सुकुमारि !

कहाँ पाया यह मेरा गान ?

पल्लविनी

स्वप्न में आकर कौन सुजान
फूँक सा गया तुम्हारे कान ?
कनक कर बढ़ा बढ़ा कर प्रात
कराया किसने यह मधु पान ?

मुझे लौटा दो, विहग कुमारि !
सजल मेरा सोने का गान ?

मार्च, १९२२]

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय ,
नहीं रुकती है यह मुसकान !

विपिन में पावस के से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव
सजग हो उठते हैं उर बीच ,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !

कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान !

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव ,
कभी बन हिमजल की लघु बूंद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव ;

गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण ,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

पल्लविनी

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार ,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार ;

नही रखती मैं जग का ज्ञान ,
और हँस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय ,
नही रुकती तब यह मुसकान !

अगस्त, १९२२]

मधुकरी

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान ,
कुसुम के चुने कटोरोँ से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान !

नवल कलियों के धोरे झूम ,
प्रसूनों के अधरों को चूम ,
मुदित, कवि सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग में घूम ;
सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान !

किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर ;
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़ उड़ भोर ;
मुझे भी बतला दो न कुमारि !
मधुर निशि स्वप्नों के वे गान !

पल्लविनी

सूँघ चुन कर, सखि ! सारे फूल ,
सहज बिंध बँध, निज सुख दुख भूल ,
सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधुमूल ;

पिला दो ना, तब हे सुकुमारि !
इसी से थोड़े मधुमय गान ;
कुसुम के खुले कटोरों से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान !

सितम्बर, १९२२]

निर्भरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि ! कोमल कल् मल् टल् मल् ?
अरी शैलबाले नादान !
यह निश्छल कल् कल् छल् छल् ?

भर् मर् कर पत्रों के पास ,
रण मण रोड़ों पर सायास ,
हँस हँस सिकता से परिहास
करती तुम अद्विरल झलमल !

स्वर्ण बेलि सी खिली विहान ,
निशि में तारों की सी यान ;
रजत तार सी शुचि रुचिमान
फिरती तुम रंगिणि ! रल् मल् !

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास ,
उपलों पर बहु रंगी लास ,
फैलाती हो फेनिल हास ,
फूलों के कूलों पर चल !

पल्लविनी

अलि ! यह क्या केवल दिखलाव ,
मूक व्यथा का मुखर भुलाव ?
अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अंचल !

वही कल्पना है दिन रात ,
बचपन औ' यौवन की बात ;
सुख की वा दुख की ? अज्ञात !
उर अधरों पर है निर्मल !

सरल सलिल की सी कल तान ,
निखिल विश्व से निपट अजान ,
विपिन रहस्यों की आख्यान !
गूढ बात है कुछ टल् मल् !

सितम्बर, १९२२]

पल्लविनी

चूम मौन कलियों का मान ,
खिला मलिन मुख में मुसकान ,
गूढ़ स्नेह का सा निःश्वास
पा कुसुमों से सौरभ दान ,
रँग देते रज से आकाश !

छेड़ वेणु वन में आलाप ,
जगा रेणु के लोड़ित साँप ,
भय से पीले तरु के पात
भगा बावलों से बेआप ,
करते नित नाना उत्पात !

अस्थि हीन जलदों के बाल
खींच, मींच औ' फेंक, उछाल ,
रचते विविध मनोहर रूप
मार, जिला उनको तत्काल ,
फैला माया जाल अनूप !

विश्व वेणु

हर सुदूर से अस्फुट तान ,
आकुल कर पथिकों के कान ,
विश्व वेणु के से झंकार
हम जग के सुख दुखमय गान
पहुँचाते अनन्त के द्वार !

मार्च, १९२३]

वीचि विलास

अरी सलिल की लोल हिलोर !

यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?

सरिता की चंचल दृग कोर !

यह जग को अविदित उल्लास ?

आ, मेरे मृदु अंग झकोर ,

नयनों को निज छबि में बोर ,

मेरे उर में भर मधु रोर !

गूढ़ साँस सी यति गति हीन

अपनी ही कंपन में लीन ,

सजल कल्पना सी साकार ,

पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन ;

तुम शैशवं स्मिति सी सुकुमार ,

मर्म रहित, पर मधुर अपार ,

खिल पड़ती हो बिना विचार !

वीचि विलास

वारि बेलि सी फैल अमूल ,
छा अपत्र सरिता के कूल ,
विकसा औ' सकुचा नवजात
बिना ताल के फेनिल फूल ;
छुई मुई सी तुम पश्चात्
छूकर अपना ही मृदु गात ,
मुरझा जाती हो अज्ञात !

स्वर्ण स्वप्न सी कर अभिसार
जल के पलकों पर सुकुमार ,
फूट आप ही आप अजान
मधुर वेणु की सी झंकार ;
तुम इच्छाओं सी असमान ,
छोड़ चिह्न उर में गतिवान ,
हो जाती हो अंतर्धान !

मुग्धा की सी मृदु मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान ;
स्वर्गिक सुख की सी आभास
अतिशयता में अचिर; महान—

पल्लविनी

दिव्य भूति सी आ तुम पास ,
कर् जाती हो क्षणिक विलास ,
आकुल उर को दे आश्वास !

ताल ताल में थिरक अमंद ,
सौ सौ छंदों में स्वछंद
गाती हो निस्तल के गान ,
सिन्धु गिरा सी अगम, अनंत ;

इंदु करों से लिख अम्लान
तारों के रोचक आख्यान ,
अंबर के रहस्य द्युतिमान !

चला मीन दृग चारों ओर ,
गह गह चंचल अंचल छोरे ,
रुचिर रूपहरे पंख पसार
अरी वारि की परी किशोर !

तुम जल थल में अनिलाकार
अपनी ही लघिमा पर वार ,
करती हो बहु रूप विहार !

वीचि विलास

अंग भंगि में व्योम मरोर ;
भौंहों में तारों के झौर
नचा, नाचती हो भर पूर ;
तुम किरणों की बना हिडोर ;
निज अधरों पर कोमल क्रूर ,
शशि से दीपित प्रणय कपूर
चाँदी का चुबन कर चूर !

खेल मिचौनी सी निशि भोर ,
कुटिल काल का भी चित्त चोर ,
जन्म मरण से कर परिहास ,
बढ़ असीम की ओर अछोर ;
तुम फिर फिर सुधि सी सोच्छ्वास
जी उठती हो बिना प्रयास ,
ज्वाला सी, पाकर वातास !

मई, १९२३]

अनंग

अहे विश्व अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्राधार !
उर उर के कंपन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !
ऐ असीम सौन्दर्य सिंधु की
विपुल वीचियों के श्रृंगार !
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग ! बनो साकार !

आदि काल में बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हतज्ञान ,
शस्य शून्य वसुधा का अंचल ,
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान ;
प्रथम हास से, प्रथम अश्रु से ,
प्रथम पुलक से, हे छबिमान !
स्मृति से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व स्वप्न से खिले अजान !

झूल जगत के उर कंपन में ,
 पुलकावलि में हँस अविराम ,
 मृदुल कल्पनाओं से पोषित ,
 भावों से भूषित अभिराम ;
 तुमने भौंरों की गुंजित ज्या ,
 कुसुमों का लीलायुध थाम ,
 अखिल भुवन के रोम रोम में ,
 केशर शर भर _ दिए _ सकाम !

नव वसंत के सरस स्पर्श से
 पुलकित वसुधा बारंबार
 सिहर उठी स्मित शस्यावलि में ;
 विकसित चिर यौवन के भार ;
 फूट पड़ा कलिका के उर से
 सहसा सौरभ का उद्गार ,
 गंध मुग्ध हो ग्रंथ समीरण
 लगा थिरकने विविध प्रकार !

अगणित बाँहें बढ़ा उदधि ने
 इंदु करों से आलिङ्गन

पल्लविनी

बदले, विपुल चटुल लहरों ने
तारों से फेनिल चुंबन ;
अपनी ही छबि से विस्मित हो
जगती के अपलक लोचन
सुमनों के पलकों पर सुख से
करने लगे सलिल मोचन !

सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिमजल सस्मित भोर ,
मूक विहग कुल के कंठों से
उठी मधुर संगीत हिलोर ;
विश्व विभव सी बाल उषा की
उड़ा सुनहली अंचल छोर ,
शत हर्षित ध्वनियों से आहत
बड़ा गंधवह नभ की ओर !

शून्य शिराओं में संसृति की
हुआ विचारों का संचार ,
नारी के गंभीर हृदय का
गूढ़ रहस्य बना साकार ;

मिला लालिमा में लज्जा की
छिपा एक निर्मल संसार ,
नयनों में निःसीम व्योम औ'
उरोरुहों में सुरसरि धार !

अंबुधि के जल में अथाह छबि ,
अंबर में उज्ज्वल , आह्लाद ,
ज्योत्स्ना में अपनी अजानता ,
मेघों में उदार संवाद ;
विपुल कल्पनाएँ लहरों में ,
तरु छाया में विरह विषाद ,
मिली तृषा सरिता की गति में ,
तम में अगम, गहन उन्माद !

मृगियों ने चंचल अवलोकन ,
औ' चकोर ने निशाभिसार ,
सारस ने मृदु ग्रीवालिङ्गन ,
हंसों ने गति, वारि विहार ,
पावस लास प्रमत्त शिखी ने ,
प्रमदा ने सेवा, शृंगार ,

पल्लविनी

स्वाति तृषा सीखी चातक ने ,
मधुकर ने मादक गुंजार !

शून्य वेणु उर से तुम कितनी
छेड़ चुके तब से प्रिय तान ,
यमुना की नीली लहरों में
बहा चुके कितने कल गान ;
कहाँ गेघ औ' हंस ? किंतु तुम
भेज चुके संदेश अजान ;
तुड़ा मरालों से मंदर धनु
जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण !

जीवन के सुख दुख से सुरभित
कितने काव्य कुसुम सुकुमार ,
करुण कथाओं की मृदु कलियाँ—
मानव उर के से शृंगार—
कितने छंदों में, तालों में ,
कितने रागों मे अविकार
फूट रहे नित, अहे विश्वमय !
तब से जगती के उद्गार !

विपुल कल्पना से, भावों से ,
 खोल हृदय के सौ सौ द्वार ,
 जल,थल,अनिल,अनल,नभ से कर
 जीवन को फिर एकाकार ,
 विश्व मंच पर हास-अश्रु का
 अभिनय दिखला बारंबार ,
 मोह यवनिका हटा, कर दिया
 विश्व रूप तुमने साकार !

हे त्रिलोकजित् ! नव वसंत की
 विकच पुष्प शोभा सुकुमार
 सहम, तुम्हारे मृदुल करों में
 झुकी धनुष सी है साभार ;
 वीर ! तुम्हारी चितवन चंचल
 विजय ध्वजा में मीनाकार
 कामिनी की अनिमेष नयन छबि
 करती नित नव बल संचार !

बजा दीर्घ साँसों की भेरी ,
 सजा सटे कुच कलशाकम्बर ,

पल्लविनी

पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार ;
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बंदनवार ,
देव ! तुम्हारा स्वागत करती
खोल सतत उत्सुक दृग द्वार !

ऐ त्रिनयन की नयन वह्नि के
तप्त स्वर्ण ! ऋषियों के गान !
नव जीवन ! षड्ऋतु परिवर्तन !
नव रसमय ! जगती के प्राण !
ऐ असीम सौन्दर्य राशि में
हृत्कंपन से अंतर्धान !
विश्व कामिनी की पावन छबि
मुझे दिखाओ, करुणावान !

सितम्बर, १९२३]

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?

अये अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार !

मधुरिमा—छबि, शृंगार ;

न अंगों में है रंग, उभार ,

न मृदु उर में उद्गार ;

निरे साँसों के पिञ्जर द्वार !

कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?

कामना-से मा की सुकुमार

स्नेह में चिर साकार ;

मृदुल कुङ्कुमल-से, जिसे न ज्ञात

सुरभि का निज संसार ;

स्रोत-से नव, अवदात ,

स्खलित अविदित पथ पर अविचार ;

कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात !

अहे निरुपम, नवजात !

पल्लविनी

खेलती अधरों पर मुसकान ,
पूर्व सुधि सी अम्लान ;
सरल उर की सी मृदु आंलाप ,
अनवगत जिसका गान ;
कौन सी अमर गिरा यह, प्राण !
कौन से राग, छंद, आख्यान ?

स्वप्न लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा-गतिवान !

न अपना ही, न जगत का ज्ञान ,
न परिचित हैं निज नयन, न कान ;
दीखता है जग कैसा तात !
नाम, गुण, रूप अज्ञान ?
तुम्हीं सा हूँ मैं भी अज्ञात ,
वत्स ! जग है अज्ञेय महान !

नवम्बर, १९२३]

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान ,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान ;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार ,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास ,
प्रखर झरती जब पावस धार ;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

पल्लविनी

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास ,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास ,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार ,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात ;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ मे भोर
विश्व को देती है जब बोर ,
विहग कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर ;
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

मौन निमंत्रण

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार ,
भीरु भींगुर कुल की भनकार
कँपा देती तंद्रा के तार ;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार ,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार ;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान ,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार ,
जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण ;
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन !

पल्लविनी

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान ,
सुभाते हो तुम पथ अनजान ,
फूँक देते छिद्रों में गान ;
अहे सुख दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

नवम्बर, १९२३]

परिवर्तन

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?

भूतियों का दिगंत छबि जाल ,
ज्योति चुंबित जगती का भाल ?

राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?

स्वर्ग की सुखमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत शृंगार ,
(स्वर्ण भृंगों के गंध विहार)
गूँज उठते थे बारंबार ,
सृष्टि के प्रथमोद्गार !

नग्न सुंदरता थी सुकुमार ,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार !

अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात ,

कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दुरित, दुख, दैन्य न थे जब ज्ञात ,
अपरिचित जरा मरण भ्रू पात !

पल्लविनी

(२)

हाय ! सब मिथ्या बात !—

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार ,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !

आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल ;
प्राण का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल !

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल ;
कच्चों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार ;
गूँजते हैं सब के दिन चार ,
सभी फिर हाहाकार !

(३)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात ,
और फिर अंधकार, अज्ञात !

✓ शिशिर सा भर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल !
प्रणय का चुबन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होंठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर ,
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गंभीर !

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग ;
मिलन के पल केवल दो, चार ,
विरह के कल्प अपार !

पल्लविनी

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय ;
उठे रोओं के आलिङ्गन
कसक उठते. काँटों से हाय !

(४)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गए यदि ऋण भी कुछ आज ;
चुका लेता दुख कल ही व्याज ,
काल को नहीं किसी की लाज !

विपुल मणि रत्नों का छबि जाल ,
इंद्रधनु की सी छटा . विशाल—
विभव की विद्युत ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल ;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार

(५)

खोलता इधर जन्म लोचन ,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण ;

अभी उत्सव औ' हास हुलास ,
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास !

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास ,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश ;
सिसक उठता समुद्र का मन ,
सिहर उठते उड़गन !

(६)

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन ,
निखिल उत्थान, पतन !

अहे वासुकि सहस्र फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूटकार भयंकर

पल्लविनी

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !

मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर ,

अखिल विश्व ही विवर ,

वक्र कुंडल

दिङ्मंडल !

(७)

अहे दुर्ज्ये विश्वजित् !

नवाते शत सुरवर, नरनाथ

तुम्हारे इंद्रासन तल माथ ;

घूमते शत शत भाग्य अनाथ ,

सतत रथ के चक्रों के साथ !

तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित ;

करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित ,

नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित ,

हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित !

आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल ,

वह्नि, बाढ़, भूकंप,—तुम्हारे विपुल सैन्य दल ,

अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टल मल
पद दलित धरा तल !

(८)

जगत का अविरत हृत्कंपन
तुम्हारा ही भय सूचन ;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमंत्रण !

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि से घुस पल पल ;
तुम्हीं स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल !
अये, सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मंडल

नैश गगन सा सकल

तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(९)

काल का अकरुण भृकुटि विलास

तुम्हारा ही परिहास ;

विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास

तुम्हारा ही इतिहास !

पल्लविनी

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकरं
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर !
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर ,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडंबर !
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन ,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षिपोतों से उड़गन !
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन ,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजरे में बद्ध, गजाधिप सा विनतानत ,
वाताहत हो गगन

आर्त करता गुरु गर्जन !

(१०)

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधती बधिर ! तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतो की अगणित धार
सींचती उर पाषाण !

अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !

चतुर्दिक् घहर घहर आक्रांति
ग्रस्त करती मुख गांति !

(११)

हाय री दुर्बल भ्रांति !—
कहाँ नश्वर जगती में गांति !
सृष्टि ही का तात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन संग्राम ,
स्वप्न है यहाँ विराम !

एक सौ वर्ष, नगर उपवन ,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
—यही तो है असार संसार ,
सृजन, सिंचन, संहार !

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार ,
रत्न दीपावलि, मंत्रोच्चार ;
उलूकों के कल भग्न विहार ,
झिल्लियों की झनकार !

दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

(१२)

अरे, देखो इस पार—

दिवस की आभा में साकार

दिगंबर, सहम रहा संसार !

हाय ! जग के करतार !!

प्रात ही तो कहलाई मात ,

पयोधर बने उरोज उदार ,

मधुर उर इच्छा को अज्ञात

प्रथम ही मिला मृदुल आकार ;

छिन गया हाय ! गोद का बाल ,

गड़ी है बिना बाल की नाल !

अभी तो मुकुट बँधा था माँथ ,

हुए कल ही हलदी के हाथ ;

खुले भी न थे लाज के बोल ,

खिले भी चुम्बन शून्य कपोल ;

हाय ! रुक गया यहीं संसार

बना सिन्दूर अँगार ;

वात हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार !!

(१३)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय ,
रज्जु सा, छिद्रों का कृश काय !
न उर में गृह का तनिक दुलार ,
उदर हीं मे दानों का भार !
भूँकता सिड़ी शिशिर का श्वान
चीरता हरे ! अचीर शरीर ;
न अधरों में स्वर, तन में प्राण ,
न नयनों ही मे नीर !

(१४)

सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह द्वार ;
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार ;
टिड्डियों सा छा अत्याचार
चाट जाता संसार !

पल्लविनी

(१५)

बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा खोल ;
भृकुटि के कुंडल वक्र मरोर
फुहँकतां अंध रोष फन खोल !
लालची गीधों से दिनरात ,
नोचते रोग शोक नित गात ,
अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल !

(१६)

बहा नर शोणित मूसलधार ,
रुंड मुंडों की कर बौछार ,
प्रलय घनसा घिर भीमाकार
गरजता है दिगंत संहार ;
छेड़ खर शस्त्रों की भनकार
महाभारत गाता संसार !
कोटि मनुजों के, निहत अकाल ,
नयन मणियों से जटित कराल

परिवर्तन

अरे दिग्गज सिंहासन जाल
अखिल मृत देशों के कंकाल ;
मौतियों के तारक लड़ हार
आँसुओं के शृंगार !

(१७)

रुधिर के है जगती के प्रात ,
चितानल के ये सायंकाल ;
शून्य निःश्वासों के आकाश ,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल !
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु ,
अरे, जग है जग का कंकाल !!

वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार ,
शांति, सुख है उस पार !

(१८)

आह भीषण उद्गार !—
नित्य का यह अनित्य नर्तन ,
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन ,
अचिर में चिर का अन्वेषण

पल्लविनी

विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन !

अतल से एक अकूल उमंग ,
सृष्टि की उठती तरल तरंग ;
उमड़ शत शत बुद्बुद संसार
बूड़ जाते निस्सार !
बना सैकत के तट अतिवात
गिरा देती अज्ञात !

(१६)

एक छबि के असंख्य उड़गन ,
एक ही सब में स्पंदन ;
एक छबि के विभात मे लीन ,
एक विधि के रे नित्य अधीन !
एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर ;
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार ,
सृजन ही है, संहार !

मूंदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात ,

परिवर्तन

शिशिर की सर्व प्रलयकर वात

बीज बोती अज्ञात !

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान ,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान ,
जगत केवल आदान प्रदान !

(२०)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार ;
लोचनों मे लावण्य अनूप ,
लोक सेवा में शिव अविकार ;
स्वरो में ध्वनित मधुर, सुकुमार

सत्य ही प्रेमोद्गार ;
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार ,
भावनामय संसार !

(२१)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार ;

पल्लविनी

कहीं राखी बनता सुकुमार ,
कहीं बेड़ी का भार !

(२२)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार ,
जगाते जीवन की झंकार ,
स्फूर्ति करते संचार ,
चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

पिघल होंठों का हिलता-हास
दृगों को देता जीवन दान ,
वेदना ही मे तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास !

तरसते हैं हम आठों याम ,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम ;
भेलते निशि दिन का संग्राम
इसी से जय अभिराम ;

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल ,
साधना ही जीवन का मोल !

(२३)

बिना दुख के सब सुख निस्सार ,
बिना आँसू के जीवन भार ;
दीन दुर्बल है रे संसार ,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !

(२४)

आज का दुख, कल का आह्लाद ,
और कल का सुख, आज विषाद ;
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार
पूर्ति जिसकी उस पार ;
जगत जीवन का अर्थ विकास ,
मृत्यु, गति-क्रम का ह्रास !

पल्लविनी

(२५)

हमारे काम न अपने काम ,
नही हम, जो हम ज्ञात ;
अरे, निज छाया मे उपनाम
छिपे है हम अपरूप ;
गँवाने आए है अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप !

(२६)

जगत की सुंदरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात ,
सुहाता बदल, बदल, दिनरात ,
नवलता ही जग का आह्लाद !

(२७)

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल ,
मजरित यौवन, सरस रसाल ;
प्रौढ़ता, छाया बट सुविशाल ;
स्थविरता, नीरव सायंकाल ;

पल्लविनी

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर ,
इंद्रजाल सा 'तुम अनंत मे रचते सुंदर ;
गरज गरज, हँस हँस, चढ़ गिर, छा ढा, भू अंबर ,,
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर ;
अखिल विश्व की आशाओं का इंद्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर !

(२६)

एक औ' बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान ,
जगत के उर में छोड़ महान
गहन चिह्नों में ज्ञान !

परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरंतर ,
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन कर्णतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर ;

परिवर्तन

शिक्षास्थल यह विश्व मंच, तुम नायक नटवर ,
प्रकृति नर्तकी सुधर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !

(३०)

हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास ;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास !

ऐ अनंत हृत्कंप ! तुम्हारा अविरत स्पंदन्
सृष्टि शिराओं .मे संचारित करता जीवन ;
खोल जगत के शत शत नक्षत्रों से लोचन ,
भेदन करते अंधकार तुम जग का क्षण क्षण ;
सत्य तुम्हारी राज यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन ,

भूप, अकिंचन ,
अटल शास्ति नित करते पालन !

पल्लविनी

(३१)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार ,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार ;
तुम्ही में निराकार साकार ,
मृत्यु जीवन सब एकाकार !

अहे महान्बुधि ! लहरो से शत लोक, चराचर ,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर ;
तुम तरंगों से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर मे विलीन करते तुम सत्वर ;
शत सहस्र रवि शशि, असंख्य यह उपग्रह , उड़गण ,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण ;
अचिर विश्व में अखिल—दिशावधि, कर्म, बचन, मन ,
तुम्ही चिरंतन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन !

एप्रिल, १९२४]

शिशु भावना

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश ;
बजा भौरों ने मधु के तार
कह दिए भेद भरे संदेश ;

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न मे चौंका गई प्रभात ;
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात ;
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गए अपना गान !

दूर, उन खेतों के उस पार ,
जहाँ तक गई नील झंकार ,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग-की परियों का संसार ;

पल्लविनी

वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास ,
वही से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ उड़ कर पास !
इन्ही में छिपा कही अनजान
मिला कवि को निज गान !

जनवरी, १९२६]

लोगी मोल ?

लाई हूँ फूलों का हास ,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?

फैल गई मधु ऋतु की ज्वाल ,
जल जल उठतीं वन की डाल ;
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत ,
फूट रहे नव नव जल स्रोत ;
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

पल्लविनी

विरल जलद पट खोल अजान
छाई शरद रजत मुसकान ,
यह छबि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग जग खग बाल ;
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल !

अप्रैल, १९२७]

गीत खग !

(क)

तेरा कैसा गान ,
विहगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु से सीखे वेद पुराण ,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान ,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान ,
काव्य, रस, छंदो की पहचान ?
न पिक प्रतिभा का कर अभिमान ,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान !

हँसते हैं विद्वान ,

गीत खग, तुझ पर सब विद्वान !
दूर छाया-तरु वन में वास ,
न जग के हास अश्रु ही पास ;
अरे, दुस्तर जग का आकाश ,
गूढ़ रे छाया ग्रथित प्रकाश ;
छोड़ पंखो की शून्य उड़ान ,
वन्य खग ! विजन नीड़ के गान !

पल्लविनी

(ख)

मेरा कैसा गान ,
न पूछो मेरा कैसा गान !
आज छाया वन वन मधुमास ,
मुग्ध मुकुलों मे गंधोच्छ्वास ;
लुङ्कता तृण तृण में उल्लास ;
डोलता पुलकाकुल वातास ;
फूटता नभ मे स्वर्ण विहान ,
आज मेरे प्राणों में गान !

मुझे न अपना ध्यान ,
कभी रे रहा, न जग का ज्ञान !
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व पुलकावलि-से तरु पात ;
पार करते अनंत अज्ञात
गीत मेरे उठ सायं प्रात ;
गान ही में रे मेरे प्राण ,
अखिल प्राणों में मेरे गान !

१९२७]

प्रतीक्षा

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
संध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से !
लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ उठ कर ,
सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि ! ठण्ढी साँसें भर !

हैं मुकुल मुँदे डालों पर ,
कोकिल नीरव मधुवन में ;
कितने प्राणों के गाने
ठहरे हैं तुमको मन में !
तुम आओगी, आशा में
अपलक है निशि के उडुगण !
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव जीवन क्षण !

जनवरी, १९३२]

भावी पत्नी के प्रति

प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की सी बाण ,
बाल रति सी अनुपम, असमान—
न जाने, कौन, कहाँ, अनजान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

जननि अंचल में झूल सकाल
मृदुल उर कंपन सी वपुमान ;
स्नेह सुख में बढ़, सखि ! चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान ;
कौन सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान !
शलभ चंचल मेरे मन प्राण ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

भावी पत्नी के प्रति

नवल मधुऋतु निकुंज मे प्रात
प्रथम कलिका सी अस्फुट गात ,
नील नभ अंतःपुर , मे, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात ,
मधुरता मृदुता सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात ;
कल्पना हो, जाने, परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण !

हृदय के पलकों में गति हीन
स्वप्न ससृति सी सुखमाकार ;
वाल भावुकता बीच नवीन
परी सी धरती रूप अपार ;
झूलती उर मे आज, किशोरि !
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान ,
लाज म लिपटी उपा समान ,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

१४५

पल्लविनी

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमासं ,
स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार ;
मनोभावों का मधुर विलास ,
विश्व सुखमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम बाला का शरदाकाश ;
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरुण अधरों की पल्लव प्रात ,
भोतियों सा हिलता हिम हास ;
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल विद्युत् का पावस लास ;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

भावी पत्नी के प्रति

खेल सस्मित सखियों के साथ
सरल शैशव सी तुम साकार ,
लोल, कोमल लहरों में लीन
लहर ही सी कोमल, लघु भार ,
सहज करती होशी, सुकुमारि !
मनोभावों से बाल विहार ,
हँमिनी सी सर में कल तान ;
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खोल सौरभ का मृदु कच जाल
सूँघता होगा अनिल समोद ,
सीखते होंगे उड़ खग बाल
तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद ;
चूम लघु पद चंचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जल स्रोत ,
मुकुल बनती होगी मुसकान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

पल्लविनी

मृदूमिल सग्मी मे सुकुमार
अधोमुख अरुण मरोज ममान ,
मुग्ध कवि के उर के छः तार
प्रणय का सा नव आवृत्त गान ;
तुम्हारे शैशव में, मोभार ,
पा रहा होगा यौवन प्राण ;
स्वप्न सा विस्मय सा अम्लान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकंपित मृदु उर, पुलकित गात ,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप ,
जड़ित पद, नमित पलक दृग पात
पास जब आ न सकोगी, प्राण !
मधुरता में सी मरी अजान ;
लाज की छुईमुई सी म्लान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

भावी पत्नी के प्रति

सुमुखि, वह मधु क्षण ! वह मधु वार !
धरोगी कर मे कर सुकुमार !
निखिल जब नर नारी संसार
मिलेगा नव मुख मे नव बार ;
अधर-उर मे उर-अधर समान ,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण ,
कहेगे नीरव प्रणयाख्यान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे, चिर गूढ़ प्रणय आख्यान !
जब कि रुक जावेगा अनजान
साँस सा नभ उर में पवमान ,
समय निश्चल, दिशि पलक समान ;
अवनि पर झुक आवेगा, प्राण !
व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण ;
नील सरसिज सा हो हो म्लान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अप्रैल, १९२७]

मधु स्मिति

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण !

मुसकुरा दी थी आज विहान ?

आज गृह वन उपवन के पास

लोटता राशि राशि हिम हास ,

खिल उठी आँगन में अवदात

कुद कलियों की कोमल प्रात !

मुसकरा दी थी, बोलो, प्राण !

मुसकरा दी थी तुम अनजान ?

आज छाया चहुँदिसि चुपचाप

मृदुल मुकुलों का मौनालाप ,

रूपहली कलियों से कुछ लाल ,

लद गईं पुलकित पीपल डाल ;

और, वह पिक की मर्म पुकार

प्रिये ! झर झर पड़ती साभार ,

लाज से गड़ी न जाओ, प्राण !

मुसकुरा दी क्या आज विहान !

अक्तूबर, १९२७]

मन विहग

तुम्हारी आँखों का आकाश ,
सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान ,
मृगेक्षिणि ! इनमे खग अज्ञान !

देख इनका चिर करुण प्रकाश ,
अरुण कोरों मे उषा विलास ,
खोजने निकला निभृत निवास ,
पलक पल्लव प्रच्छाद्य निवास ;
न जाने ले क्या क्या अभिलाष
खो गया बाल विहग नादान !

तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश !
गूढ, नीरव, गंभीर प्रसार ,
न गहने को तृण का आधार

बसाएगा कैसे ससार ,
प्राण ! इनमें अपना संसार !
न इनका ओर छोर रे पार ,
खो गया वह नव पथिक अजान !

अक्तूबर, १९२७]

प्रेम नीड़

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम विहग का वास !
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला रे गई पात सा गात ,
मंद्र द्रुम मर्मर सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास !
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम विहग का वास !

मदिर कोरों-से कोरक जाल
बेधते मर्म बार रे बार ,
मूक चिर प्राणों का पिक बाल
आज कर उठता करुण पुकार ;
अरे अब जल जल नवल प्रवाल
लगाते रोम रोम में ज्वाल ,
आज बौरे रे तरुण रसाल
भौर मन मँडरा गई सुवास !

मार्च, १९२८]

मधुवन

आज नव मधु की प्रात
झलकती नभ पलकों में प्राण !
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान ,
झलकती, मेरी जीवन स्वप्न ! प्रभात
तुम्हारी मुख छवि सी रुचिमान !

आज लोहित मधु प्रात
व्योम लतिका में छायाकार
खिल रही नव पल्लव सी लाल ,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल !

आज उन्मद मधु प्रात
गगन के इंदीवर से नील ,
भर रही स्वर्ण मरंद समान ,
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण !

आज स्वर्णिम मधु प्रात
 व्योम के विजन कुंज में, प्राण !
 खुल रही नवल गुलाब समान ,
 लाज के विनत वृन्त पर ज्यों अभिराम
 तुम्हारा मुख अरविन्द - सकाम !

प्रिये, मुकुलित मधु प्रात
 मुक्त नभ वेणी में सोभार
 सुहाती रक्त पलाश समान ;
 आज मधुवन मुकुलों में झुक साभार
 तुम्हें करता निज विभव प्रदान !

× × × ×
 डोलने लगी मधुर मधुवात
 हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु पात ,
 डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात
 गुंज - मधु - गंध - धूल - हिम - गात !
 खोलने लगीं, शयित चिरकाल ,
 नवल कलि अलस पलक दल जाल ,

पल्लविनी

बोलने लगी, डाल से डाल
प्रमुद, पुलकाकुल कोकिल बाल !
युवाओं का प्रिय पुष्प गुलाब ,
प्रणय स्मृति चिह्न, प्रथम मधुबाल ,
खोलता लोचन दल मदिराभ ,
प्रिये, चल अलि दल से वाचाल !

आज मुकुलित कुसुमित सब ओर
तुम्हारी छवि की छटा अपार ,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय भौर
नयन, पलकों के पंख पसार !

तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में ज्वाल ,
खड़े किशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ से उठ लाल !

कपोलों की मदिरा पी, प्राण !
आज पाटल गुलाब के जाल ,

विनत शुक नासा का धर ध्यान
बन गये पुष्प पलाश अराल !

तुम्हारी पी मुख वास तरंग
आज बौरे भौरे, सहकार ,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि ! तुम सी बनने सुकुमार !
लालिमा भर फूलों में, प्राण !
सीखती लाजवती मृदु लाज ,
माधवी करती शुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज !

नवेली बेला उर की हार ,
मोतिया मोती की मुसकान ,
मोगरा कर्णफूल सा स्फार ,
अँगुलियाँ मदनबान की बान !
तुम्हारी तनु तनिमा लघु भार
बनी मृदु व्रतति प्रतति का जाल ,

पल्लविनी

मृदुलता सिरिस मुकुल सुकुमार ,
विपुल पुलकावलि चीना डाल !

प्रिये, कलि कुसुम कुसुम में आज
मधुरिमा मधु, सुखमा सुविकास ,
तुम्हारी रोम रोम छबि व्याज
छा गया मधुवन में मधुमास !

×

×

×

×

वितरती गृह-वन मलय समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान ;
मार केशर शर मलय समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण !
बेलि सी फैल फैल नवजात
चपल, लघु पद, लहलह, सुकुमार ,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम, झुक झुक सौरभ के भार !

मधुवन

आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर ,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास ,
अखिल, आकुल, उत्कलित, अधीर ,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश !

आज वन में पिक, पिक में गान ,
विटप में कलि, कलि में सुविकास ,
कुसुम में रज, रज में मधु, प्राण !
सलिल में लहर, लहर में लास !
देह में पुलक, उरों में भार ,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण ,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार ,
गिरा में लाज, प्रणय में मान !

तरुण विटपों से लिपट सुजात ,
सिहरती लतिका मुकुलित गात ,
सिहरती रह रह सुख से, प्राण !
लोम लतिका बन कोमल गात !

पल्लविनी

गंध-गुंजित कुंजों में आज ,
बँधे बाँहों में छायाऽलोक ,
मर्मरित छत्र, पत्र दल व्याज .
लिए द्रुम, तुमको खड़ी विलोक !

मिल रहे नवल बेलि तरु, प्राण !
शुकी शुक, हंस हंसिनी संग ,
लहर सर, सुरभि समीर, विहान ,
मृगी मृग, कलि अलि, किरण पतंग !

× × × ×

आज तन तन, मन मन हों लीन ,
प्राण ! सुख सुख, स्मृति स्मृति चिर सात् ;
एक क्षण, अखिल दिशावधि हीन ,
एक रस, नाम रूप अज्ञात !

अगस्त, १९३०]

गृह काज

आज रहने दो यह गृह काज ,
प्राण ! रहने दो यह गृह काज !

आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ श्लथ उच्छ्वास ,
प्रिये लालस सालस वातास
जगा रोओं में सौ अभिलाष !

आज उर के स्तर स्तर में, प्राण !
सजग सौ सौ स्मृतियाँ सुकुमार ,
दृगों में मधुर स्वप्न संसार ,
मर्म में मदिर स्पृहा का भार !
शिथिल, स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल ,
गूँजता भूला भौरा डोल
सुमुखि ! उर के सुख से वाचाल !

१६१

पल्लवनी

आज चंचल चंचल मन प्राण ,
आज रे शिथिल शिथिल तन भार !
आज दो प्राणों का दिनमान ,
आज संसार नहीं संसार !

आज क्या प्रिये, सुहाती लाज !
आज रहने दो सब गृह काज !

फरवरी, १९३२]

संध्या

कौन, तुम रूपसि, कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छबि में आप ,
सुनहला फैला केश कलाप ,—
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूँद अधरों में मधुपालाप ,
पलक में निमिष, पदों में चाप ,
भाव संकुल, बंकिम, भ्रू चाप ,
मौन, केवल तुम मौन !
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक द्युति गात ,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात
देह छबि छाया में दिन रात
कहाँ रहती तुम कौन

पल्लविनी

अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल ,
मधुर नूपुर ध्वनि खग कुल रोल ;
सीप-से जलदों के पर खोल ,
उड़ रही नभ मे मौन !
लाज से अरुण अरुण सुकपोल ,
मंदिर अधरों की सुरा अमोल ,—
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल ,
कहो, एकाकिनि, कौन !
मधुर, मंथर तुम मौन !

१९३०]

चारवायु

प्राण ! तुम लघु लघु गात !
नील नभ के निकुंज में लीन ,
नित्य नीरव, निःसंग नवीन ,
निखिल छबि की छबि ! तुम छबि हीन,
अप्सरी सी अज्ञात !

अधर मर्मर युत, पुलकित अंग ,
चूमतीं चल पद चपल तरंग ,
चटकती कलियाँ पा भ्रूभंग ,
थिरकते तृण, तरु पात !
हरित द्युति चंचल अंचल छोर ,
सजल छबि, नील कंचु, तन गौर ,
चूर्ण कच, साँस सुगंध झकोर ,
परोँ में सायं प्रात !

विश्व हृद् शतदल निभूत निवास ,
अहर्निश साँस साँस में लास ,
अखिल जग जीवन हास विलास ,
अदृश्य, अस्पृश्य, अजात !

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन ,
प्राणों में अमर प्रणय धन ;
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में ,
उर अंगों में सुख यौवन !

छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन ,
मृन्मरण बाँध दो जग का ,
दे प्राणों का आलिंगन !
बरसो सुख बन, सुखमा बन ,
बरसो जग जीवन के घन !
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन !

नव संतति

मृदु तन, हम मधु बाल, मधुर मन !

नव जीवन से नव मुकुलित नित

जरा जीर्ण जग डाल, विटप, वन !

नव इच्छाओं का नव गुंजन ,

मंजु मंजरित तन, मन, लोचन ,

नव यौवन पिक पंचम कूजन

मुखरित विश्व रसाल हरित, घन !

नव छबि, नव रँग के कलि किसलय ,

नव वय के अलि, नवल कुसुम चय ,

मधुर प्रणय नव, नव मधु संचय ,

जग मधुच्छत्र विशाल, सुपूरन !

१९३१]

गुंजन

वन वन, उपवन—

छाया उन्मन उन्मन गुंजन ,
नव वय के अलियों का गुंजन !

रूपहले, सुनहले आम्र बौर ,
नीले, पीले औ' ताम्र भौर ,
रे गंध अंध हो ठौर ठौर
उड़ पाँति पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन !

वन के विटपों की डाल डाल
कोमल कलियों से लाल लाल ,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल ,
जल जल प्राणों के अलि उन्मन ,
करते स्पदन, करते गुंजन !

अब फैला फूलों में विकास ,
 मुकुलों के उर में मंदिर वास ,
 अस्थिर सौरभ से मलय श्वास ,
 जीवन मधु संचय को उन्मन
 करते प्राणों के अलि गुंजन !

फरवरी, १९३२]

तप रे,

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल ,
जग जीवन की ज्वाला में गल ,
बन अकलुष, उज्ज्वल, औ' कोमल ,
तप रे विधुर विधुर मन !

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम ,
स्थापित कर जग में अपनापन ,
ढल रे ढल आतुर मन !

तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन ,
गंध हीन तू, - गंध युक्त बन ,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !

सुख दुख

मैं नहीं चाहता चिर सुख ,
मैं नहीं चाहता चिर दुख ;
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख !

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि ,
फिर शशि से ओझल हो घन !

जग पीड़ित है अति दुख से ,
जग पीड़ित रे अति सुख से ,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से ।

अविरत दुख है उत्पीड़न ,
अविरत सुख भी उत्पीड़न ,
दुख सुख की निशा दिवा में ,
सोता जगता जग जीवन !

यह साँझ उषा का आँगन ,
आलिंगन विरह मिलन का ,
चिर हास अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का !

फरवरी, १९३२]

उर की डाली

देखूँ सबके उर की डाली—

किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छबि उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !
किस छबि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव !

किसने ली पिक की विरह तान ?
किसने मधुकर का मिलन गान ?
या फुल्ल कुसुम, या मुकुल म्लान ?
देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल ,
सब में कुछ दुख के करुण शूल ; —
सुख दुःख न कोई सका भूल !

अवलंबन

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन ,
हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन !
अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुंजन ,
करुणा से भारी अंतर
खो देता जीवन कंपन !

विश्वास चाहता है मन ,
विश्वास पूर्ण जीवन पर ;
सुख दुख के पुलिन डुबा कर
लहराता जीवन सागर !
दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन

पल्लविनी

दुख के तम को खा खा कर
भरती प्रकाश, से वह मन !
अस्थिर है जग का सुख दुख ,
जीवन ही नित्य, चिरंतन !
सुख दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलंबन !

जनवरी, १९३२]

स्थिर सुख

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा ,
इन म्लान, मलिन अधरो पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा !

वन की सूनी डाली पर
मीखा कलि ने मुसकाना ,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना ।
काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली ।
अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन ,

१७७

पल्लविनी

सोने सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन !

दुख दावा से नव अंकुर
पाता जग जीवन का वन ,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन कण !

फरवरी, १९३२]

उन्मन

क्या मेरी आत्मा का चिर धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर ,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर ,
सुंदर अनादि शुभ सृष्टि अमर ;
निज सुख से ही चिर चंचल मन ,
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन !

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का ,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का ,
जीवन के हर्ष विमर्शों का ;
लगता अपूर्ण मानव जीवन ,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !

पल्लविनी

जग जीवन मे उल्लास मुझे
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर ज्विर विश्वास मुझे :
चाहिए विश्व को नव जीवन .
मै आकुल रे उन्मन, उन्मन !

फरवरी, १९३२]

संध्या तारा

नीरव मध्या में प्रशांत

डूबा है मारा ग्राम प्रात ।

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर ,

ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।

खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन ,

धसर भुजंग सा जिह्वा, क्षीण ।

भीगर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर ,

मध्या प्रशान्ति को कर गभीर ।

इस महाशांति का उर उद्धार, चिर आकाशा की तीक्ष्ण धार

ज्यों बेध रही हो आर पार !

अब हुआ साध्य स्वर्णाभि लीन ,

सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन !

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल

है मूँद चुका अपने मृदु दल ।

लहरों पर स्वर्ण रेख मुदर पड गई नील, ज्यों अधर पर

अरुणाई प्रखर शिशिर में डर ।

पल्लविनी

तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,

किस गुहा नीड़ में रे किस मग !

मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील नील, कोमल कोमल;

छाया तरु वन में तम श्यामल !

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख

उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक !

अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतिष विवेक

उर मे हो दीपितः अमर टेक !

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए किसके समीप ?

मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !

क्या उसकी आत्मा काचिर धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिन्तन,

क्या खोज रहा वह अपनापन !

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन ,

वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग

मानता नहीं बंधन विवेक !

छिन्न आकांक्षा से ही थर् थर् उद्वेलित रे अहरह सागर ,

नाचती लहर पर हहर लहर !

सध्या तारा

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबोध रवि, शशि, उड़गण,
दुस्तर आकाक्षा का बधन !

रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव, नीरव नयन सजल !

जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !

एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार ,
इसके विषाद का रे न पार !

... ..

चिर अविचल पर तारक अमद !

जानता नहीं वह छद्म बंध !

वह रे अनंत का मुक्त मीत्र, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !

निष्कंप शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

...

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अधिकार,
हलका एकाकी व्यथा भार !

जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन !

जनवरी, १९३२]

नौका विहार

शात, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !

अपलक अनंत, नीरव भूतल !

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वगी गंगा, ग्रीष्म विगल,
लेटी है श्रान्त, क्लात, निश्चल !

तापस वाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुतल !

गोरे अगो पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुंदर,
चचल अचल सा नीलावर !

साडी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर !

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर ,

हम चले नाव लेकर सत्वर !

सिकता की सस्मिन सीपी पर मोर्ता की ज्योत्स्ना गद्दी विचर,
लो, पाले चढीं, उठा लग्न !

मृदु मंद, मद, मंथर, मंथर, लघु तरणि, हासिनी सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालो के पर !

नौका बिहार

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर !

कालाकाँकर का राज भवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन !

नौका से उठतीं जल हिलोर ,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर !

विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल,
ज्योतिष कर जल का अंतस्तल ;

जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल,
फिरतीं लहरें लुक छिप पल पल !

सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती पुरी सी जल में कल,
रूपहरे कचों में हो ओझल !

लहरों के घूँघट से भुक-भुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक रुक !

अब पहुँची चपला बीच धार ,
छिप गया चाँदनी का कगार !

दो बाँहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर !

पल्लविनी

अति दूर, क्षितिज पर विटप माल, लगती भ्रू रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल !

मा के उर पर शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप ;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह शोक
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार !
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार !
चाँदी के साँपों सी रलमल नाँचतीं-रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं सी खिंच तरल सरल !
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल,
फैले फूले जल में फेनिल !
अब उथला सरिता का प्रवाह, लगी से ले ले सहज थाह,
हम बड़े घाट को सहोत्साह !
ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोक्ति शत विचार !

नौका विहार

इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म मरण के आर पार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार !
में भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान !

मार्च, १९३२]

चाँदनी

नीले *नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि ,
मृदु करतल पर शशि मुख धर ,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !
वह स्वप्न जड़ित नत चितवन
छू लेती अग जग का 'मन् ,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
लहरा देती जग जीवन !

वह बेला की फूली वन
जिसमें न नाल, दल, कुङ्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि दल !
वह सोई सरित पुलिन पर
साँसों में स्तब्ध समीरण ,
केवल लघु लघु लहरों पर
मिलता मृदु मृदु उर स्पंदन !

अपनी छाया में छिप कर
 वह खड़ी शिखर पर सुंदर ,
 लो, नाच रहीं शत शत छवि
 सागर की लहर लहर पर !
 दिन की आभा दुलहिन बन
 आई निशि निभृत शयन पर ,
 वह छवि की छुईमुई सी
 मृदु मधुर लाज से मर मर !

जग के अस्फुट स्वप्नों का
 वह हार गूँथती प्रतिपल ;
 चिर सजल सजल करुणा से
 उसके ओसों का अंचल !
 वह मृदु मुकुलों के मुख में
 भरती मोती के चुंबन ,
 लहरों के चल करतल में
 चाँदी के चंचल उडगण !
 वह परिमल के लघु घन सी
 जो लीन अनिल में अविकल ,

पल्लविनी

सुख के उमड़े सागर सी
जिसमें निमग्न तट के स्थल !
वह स्वप्निल शयन मुकुल सी
हैं मुँदे दिवस के द्युति दल
उर में सोया जग का अलि
नीरव जीवन गुंजन कल !
वह एक बूँद जीवन की
नभ के विशाल करतल पर ;
डूबे असीम सुखमा में
सब ओर छोर के अंतर !

वह शशि किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर ,
उर की आभा में खोई ,
अपनी ही छवि से सुंदर !
वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल ;
अनुभूति मात्र सी उर में ,
आभास शांत, शुचि, उज्ज्वल !

वह है, वह नहीं, अनिर्वच',
जग उसमें, वह जग में लय ;
साकार चेतना सी वह ,
जिसमें अचेत जीवाशय !

फरवरी, १९३२]

चाँदनी

जग के दुख दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !
पीली पड़, दुर्बल, कोमल
कृश देह लता कुम्हलाई;
विवसना, लाज में लिपटी ,
माँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अंग, रँग, यौवन !
चिर मूक, सजल नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर ,
बस मृत्यु शेष अब जीवन !!
वह स्वर्ण भोर को ठहरी
जग के ज्योतिष आँगन पर ,
तापसी विश्व की बाला
पाने नव जीवन का वर !

जीवन क्रम

सुंदर मृदु मृदु रज का तन ,
चिर सुंदर सुख दुख का मन
सुंदर शैशव यौवन रे ,
सुंदर सुंदर जग जीवन !
सुंदर वाणी का विभ्रम ,
सुंदर कर्मों का उपक्रम ;
चिर सुंदर जन्म मरण रे .
सुंदर सुंदर जग जीवन !

सुंदर प्रशस्त दिशि अंचल ,
सुंदर चिर लघु, चिर नव पल ;
सुंदर पुराण नूतन रे
सुंदर सुंदर जग जीवन !
सुंदर से नित सुंदरतर ।
सुंदरतर से सुंदरतम ,
सुंदर जीवन का क्रम रे ,
सुंदर सुंदर जग जीवन ।

फरवरी, १९३२]

१६३

अप्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि !

अखिल , विस्मयाकार !

अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर

भावों की आधार !

गूढ़, निरर्थ असंभव, अस्फुट

भेदों की शृंगार !

मोहिनि, कुहकिनि, छल विम्रममयि ,

चित्र विचित्र अपार !

शैशव की तुम परिचित सहचरि ,

जग से चिर अनजान]

नव शिशु के संग छिप छिप रहती

तुम, मा का अनुमान ;

डाल अँगूठा शिशु के मुँह मे

देती मधु स्तन दान ,

छिपी थपक से उसे सुलाती ,

गा गा नीरव गान !

तंद्रा के छाया पथ से आ
 शिशु उर में सविलास ,
 अधरों के अस्फुट मुकुलों म
 रँगती स्वप्निल हास ;
 दंत कथाओं से अबोध शिशु
 सुन विचित्र इतिहास
 नव नयनों में नित्य तुम्हारा
 रचते रूपाभास !

प्रथम रूप मदिरा से उन्मद
 यौवन में उद्दाम
 प्रेयसि के प्रत्यंग अंग से
 लिपटी तुम अभिराम ,
 युवती के उर में रहस्य बन
 हरती मन प्रतियाम ,
 मृदुल पुलक मुकुलों से लद कर
 देह लता छबि धाम !
 इंद्रलोक में पुलक नृत्य तुम
 करती लघु पद भार !

पल्लविनी

तड़ित चकित चितवन से चंचल
कर सुर सभा अपार ,
नग्न देह में नव रँग सुरधनु
छाया पट सुकुमार ,
खोंस नील नभ की वेणी में
इंदु कुंद द्युति स्फार !

स्वर्गगा में जल विहार तुम
करती, बाहु मृणाल !
पकड़ पैरते इंदु बिम्ब के
शत शत रजत मराल ;
उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण ,
बन जाते उडु बाल ,
सजल देह द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज माल !

रवि छवि चुंबित चल जलदों पर
तुम नभ में, उस पार ,
लगा अक से तड़ित भीत शशि—
मृग शिशु को सुकुमार ,

छोड़ गगन में चंचल उड़गन
 चरण चिह्न लघु भार ,
 नाग दंत नत इंद्रधनुष पुल
 करती हो नित पार !

भी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि ,
 अब वसुधा की बाल ,
 जग के शैशव के विस्मय से
 अपलक पलक प्रवाल !
 बाल युवतियों की सरसी मे
 चुगा मनोज्ञ मराल ,
 सिखलाती मृदु रोम हास तुम
 चितवन कला अराल !

तुम्हें खोजते छाया वन में
 अब भी कवि विख्यात ,
 जब जग जग निशि प्रहरी जुगनू
 सो जाते चिर प्रात ,
 सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर ,
 तपक तड़ित अज्ञात ,

पल्लविनी

अब भी चुपके इंगित देते
गूँज मधुप, कवि भ्रात !

गौर श्याम तन, बैठ प्रभा तम ,
भगिनी भ्रात सजात ,
बुनते मृदुल मसृण छायांचल
तुम्हें तन्वि ! दिन रात ;
स्वर्ण सूत्र में रजत हिलोरे
कंचु काढ़ती प्रात ,
सुरंग रेशमी पंख तितलियाँ
डुला, सिरातीं गात !

तुहिन बिन्दु में इंदु रश्मि सी
सोई तुम चुपचाप ,
मुकुल शयन में स्वप्न देखती
निज निरूपम छबि आप ;
चटुल लहरियों से चल चुंबित
मलय मृदुल पद चाप ,
जलजों में निद्रित मधुपों से
करती मौनालाप !

नील रेशमी तम का कोमल
 खोल लोल कच भार ,
 तार तरल लहरा लहरांचल ,
 स्वप्न-विकच स्तन हार ;
 शशि कर सी लघु पद, सरसी में
 करती तुम अभिसार ,
 दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में
 ज्योत्स्ना सी सुकुमार !

मेंहदी युत मृदु करतल छबि से
 कुसुमित सुभग 'सिंगार ,
 गौर देह वृत्ति हिम शिखरों पर
 बरस रही साभार ,
 पद लालिमा उषा, पुलकित पर
 शशि-स्मित घन सोभार,
 उड्डु कंपन मृदु मृदु उर स्पंदन,
 चपल वीचि पद चार !

शत भावों के विकच दलों से
 मंडित, एक प्रभात

पल्लविनी

खिली प्रथम सौदर्य पद्म सी
तुम जग में नवजात;
भृंगों से अगणित रवि, शशि, ग्रह
गूँज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित,
गंधअंध दिशि वात !

जगती के अनिमिष पलकों पर
स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थी तुम अनंत
यौवन में चिर अम्लान;
चंचल अंचल में फहरा कर
भावी स्वर्ण विहान,
स्मित आनन में नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान !

सखि, मानस के स्वर्ग वास में
चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुखमा में अनुपम,
इच्छा मे स्वाधीन,

प्रति युग मे आती हो रंगिणि !

रच रच रूप नवीन,

तुम मुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि !

त्रिभुवन भर मे लीन !

अंग अंग अभिनव शोभा का

नव वसंत मुकुमार,

भृकुटि भंग नव नव इच्छा के

भृगो का गुजार,

शत शत मधु आकांक्षाओं से

स्पंदित पृथु उर भार,

नव आशा के मृदु मुकुलों से

चुबित लघु पदचार !

निखिल विश्व ने निज गौरव

महिमा, सुखमा कर दान,

निज अपलक उर के स्वप्नों से

प्रतिमा कर निर्माण,

पल पल का विस्मय, दिशि दिशि की

प्रतिभा कर परिधान,

पल्लविनी

तुम्हें कल्पना औ' रहस्य में
छिपा दिया अनजान !

जग के सुख दुख, पाप ताप ,
तृष्णा ज्वाला से हीन ,
जरा - जन्म - भय - मरण - शून्य ,
यौवनमयि, नित्य नवीन ;
अतल - विश्व - शोभा - वारिधि में ,
मज्जित जीवन मीन ,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी ,
निज सुख में तल्लीन !

फरवरी, १९३२]

सांध्य वन्दना

जीवन का श्रम ताप हरो, हे !
सुख सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रान्त चराचर ,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर ,
करुणानत निज कर पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे !

उदित शुक्र, अब अस्त भानु बल ,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल ,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे !

१९३२]

ज्योत्स्ना स्तुति

तुम चद्र वदनि, तुम कुंद दशनि ,
तुम शशि प्रेयसि, प्रिय परछाई !
नभ की नव रंग सीपी से तुम
मुक्ताभा सदृश उमड़ आई !
उर मे अविकच स्वप्नो का युग ,
मन की छबि तन से छन छाई !
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन चुन
जग के हित अंचल भर लाई !

मिलन

जब मिलते मौन नयन पल भर ,
खिल खिल अपलक कलियाँ निर्भर
देखती मुग्ध, विस्मित, नभ पर !
तुम मदिराधर पर मधुर अधर
धरते, झरते हिम कण झर् झर् ,
मोती के चुबन से चूकर
मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर !

तुम आलिंगन करते, हिमकर !
नाचतीं हिलोरे सिहर सिहर ,
सौ सौ बाँहों में बाँहे भर
सर मे, आकुल, उठ उठ, गिरकर !
जब रहस मिलन होता सुखकर ,
स्वर्गिक सुख स्वप्नों से सुंदर
भर जाता स्नेहातुर होकर ,
अग जग का विरह विधुर अंतर !

लिली के प्रति

सुखमा की जितनी मधुर कली ;
उन सबमें सुंदर सलज लिली !
वह छायातप में सहज पली ,
अपनी शोभा से स्वयं खिली !

वह तरुण प्रणय की पलको को
सौंदर्य स्वप्न सी प्रथम मिली ,
वह प्यारी, गोरी, रूप परी ,
जग में मेरे ही संग हिली !

१९३२]

जुगनू

जगमग जगमग, हम जग का मग ,
ज्योतिष प्रति पग करते जगमग !

हम ज्योति शलभ, हम कोमल प्रभ ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ !
चंचल, चंचल, बुझ बुझ, जल जल ,
शिशु उर पल पल हरते छल छल !

हम पटु नभचर, हँसमुख सुदर ,
स्वप्नो को हर लाते भू पर ?
भिलमिल, भिलमिल, स्वप्निल, तंद्रिल ,
आभा हिल मिल भरते भिलमिल !

ओस का गीत

जीवन चल, जीवन कल ,
जीवन हिमजल-लघु-पल !
विश्व सुखद, विश्व विशद ,
विश्व विकच प्रेम कमल !
जीवन चल, जीवन कल ,
जीवन हिमजल-लघु-पल !

खिल खिल कर, झिलमिल कर
हिलमिल ले, बंधु ! सकल ;
जन्म नवल, अगणित पल
लेगे कल, सृजन प्रबल !
जीवन चल, जीवन कल ,
जीवन हिमजल-लघु-पल !

१९३२]

पवन गीत

सर् सर् मर् मर् भन् झन् सन् सन्—

गाता कभी गरजता भीषण ,

वन वन, उपवन ,

पवन, प्रभंजन !

मेरी चपल अँगुलियों पर चल

लोल लहरियाँ करतीं नर्तन ,

अधर अधर पर धर चल चुंबन ,

बाँह बाँह में भर आलिंगन !

मेरा चाबुक खा, मृगेंद्र-सा

आहत घन करता गुरु गर्जन ,

अट्टहास कर, विद्युत् पर चढ़ ,

जब मैं नभ मे करता विचरण !

१९३२]

तितलियों का गीत

जीवन के सुखमय स्पर्शों सी
हम खोल खोल पुलकों के पर ,
उड़ती फिरतीं सुख के नभ में
स्मिति के आतप में ज्यों स्मितिचर !
पा साँस चेतना की मानो
जड़ वृंत नीड़ से उड़ सत्वर
हम फूली फिरतीं फूलों सी
पंखों की सुरँग पँखड़ियों पर !

पल पल चल पलकों में उड़तीं
चितवन की परियों सी सुंदर
हम शिशु के अधरों पर मुकुलित
स्वप्नों की कलियों सी सुखकर !
चेतना रेशमी सुखमा की
सौ सौ रुचि रंग रूप धर कर

पल्लविनी

उड़ती हो ज्यों रचना सुख मे ,
रँग रँग जीवन के गति प्रिय पर !

(फूलों तितलियों का गान)

तितली

हों जग में मधुर फूल से मुख ,
जीवन में क्षण क्षण चुबन सुख !

फूल

हों इच्छाओं के चंचल पर
अधरो से मिलते रहें अधर !

तितली

हों हृदय प्रणय मधु से मधुमय ,
उर सौरभ से जग सौरभमय !

फूल

हो सबके प्रिय स्नेही सहचर ,
यह धरा स्वर्ग ही सी सुखकर !

१९३२]

हिलोरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल !
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल !
छू-छू मधु-मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल !

सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल ,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल मिल ,
खस खस पड़ता उर से अंचल !
चिर जन्म मरण को हँस हँसकर
हम आलिंगन करतीं पल पल ,
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओभल !

भक्तियों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुंदर
अपनी लघिमा पर न्योछावर !
शोभित मृदु वाष्प-वसन तन पर ,
रवि शशि किरणों से सस्मित पर !

अधरों में भर अस्फुट मर्मर ,
साँसों से पी सौरभ सुखकर
फिरते हम दिशि दिशि निशि वासर
चढ़ चित्रग्रीव चल जलदों पर !

खिल पड़ते चपल परस पाकर
पुलकित हो तृण तरुदल सत्वर ,
नाचती संग विवसना लहर
बाहों में कोमल बाहें भर !

१९३२]

हिलोर और झकोर

लहर—हम कोमल सलिल हिलोर नवल ,
झकोर—हम अस्थिर मरुत झकोर चपल !
लहर—हम मुग्धा नव यौवन चंचल ,
झकोर—हम तरुण, मिलन इच्छा विह्वल !

लहर—हम लाज भीरु, खुल पड़ता तन ,
झकोर—सुंदर तन का सौंदर्य वसन !
लहर—श्लथ हुए अंग सब सिहर सिहर ,
झकोर—आकुल उर काँप रहा थर् थर् !

लहर—हम तन्वि, भार यह नव यौवन ,
झकोर—नवला का आश्रय आलिंगन !
लहर—हम जल अप्सरि ,
झकोर—हम चल नभचर ,
दोनों—है प्रेम पाश स्वर्गीय, अमर !

१९३२]

विहग गीत

आओ, जीवन के आतप में
हम सब हिल मिल खेलें जी भर ,
गई रात, त्यागो जड़ निद्रा ,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर !

चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों से बाहर ,
एक गान हो यह जग जीवन ,
हम उसके सौ सौ सुखमय स्वर !

सुख से रे रस लें, जीवन फल
छेद प्रेम की चंचु से प्रखर ,
डाल डाल हो क्रीडा कलरव ,
शाख शाख हो इस जग की, घर !
मुक्त गगन है जग जीवन का ,
उड़ें खोल इच्छाओं के पुर ,
हो अपार उड़ने की इच्छा ,
है असीम यह जग का अंबर !

स्वप्न-कल्पना

शिशुओं के अविकच उर मे
हम चिर रहस्य बन रहते !
छाया-वन के गुजन में
युग युग की गाथा कहते !
अनिमिष तारक पलकों पर
हम भावी का पथ तकते !
नव युग की स्वर्ण कथाएँ
ऊषा अंचल पर लिखते !

सीमाएँ बाधा बधन ,
निःसीम सदैव विचरते ;
हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते !
हम मनोलोक से जग में ,
युग युग मे आते जाते ,
नव जीवन के ज्वारों मे
दिशि पल के पुलिन डुबाते !

मधु प्रभात

लो, जग की डाली डाली पर
जागी नव जीवन की कलियाँ !
मिट्टी ने जड़ निद्रा तज कर
खोली स्वप्निल पलकावलियाँ !
मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तंद्रिल छायांचल ,
रज रज के रोएँ रोएँ मे
छू छू भर दी पुलकावलियाँ !

शशि किरणों ने मोती भर भर
गूँथी उडती सौरभ अलकें
गूँजी, मधु अधरो पर मँडरा ,
इच्छाओ की मधुपावलियाँ !
श्री, सुख, स्वप्नों से भर लाई
लो, ऊषा सोने की डलिया ,
मुखरित रखतीं जग का आँगन
जीवन की नव नव रंगरलियाँ !

जीवन वसंत

जग जीवन नित नव नव ,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव !
जीवन शाश्वत वसंत ,
अगणित कलि कुमुम वृत्त ,
सौरभ सुख श्री अनंत ,
पल पल नव प्रलय प्रभव !

रवि शशि ग्रह चिर हर्षित
जल स्थल दिशि समुल्लसित ,
निखिल कुसुम कलि सस्मित ,
मुदित सकल हों मानव !
आशा इच्छानुराग ,
हो प्रतीति, शक्ति, त्याग ,
उर उर में प्रेम आग ,
प्रेम स्वर्ग मर्त्य विभव !

१९३२]

मानव स्तव

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर ,
देवता यही मानव शोभन ,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बंधन !
है रे न दिशावधि का मानव ,
वह चिर पुराण, वह चिर नूतन ,
मानव के हैं सब जाति, वर्ण ,
सब धर्म, ज्ञान, संस्कृति, बल, धन !

मृन्मय प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम ,
हम एक ज्योति के दीप अखिल ,
ज्योतिष जिनसे जग का आँगन !

हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि ,
जीवन वसंत के मुकुल, सुमन ,
सुरभित सुख से गृह गृह, उपवन ,
उर उर में पूर्ण प्रेम मधु धन !

१९३२]

सौर मंडल

चिन्मय प्रकाश में विश्व उदय ,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय !
रवि, शशि , ग्रह उपग्रह तारा चय ,
अग जग प्रकाशमय हैं निश्चय !
चित् शक्ति एक रे जगज्जननि ,
धृत ज्योति योनि में लोकाशय ,
पलते उर में नव जगत सतत ,
होते जग जीर्ण उदर में क्षय !

चिर महानंद के पुलकों से
झर भर नित अगणित लोक निचय ,
नाचते शून्य में समुल्लसित
वन शत शत सौर चक्र निर्भय !
अविराम प्रेम परिणय अग जग ,
परिणीत उभय चिन्मय मृन्मय ,
जड़ चेतन, चेतन जड़ बन बन
रचते चिर सृजन प्रलय अभिनय !

निद्रा का गीत

सोओ, सोओ, तात !
सोए तरु-वन में खग ,
सरसी में जलजात !

सजग गगन के तारक
भू प्रहरी प्रख्यात ,
सोओ जग दृग तारक ,
भूलो पलक निपात !
चपल वायु सा मानस ,
पा स्मृतियों के घात
भावों में मत लहरे ,
विस्मृत हो जा गात !

जाग्रत उर में कंपन ,
नासा में हो वात ,
सोएँ सुख, दुख, इच्छा ,
आशाएँ अज्ञात !

निद्रा का गीत

विस्मृति के तंद्रालस
तमसांचल में, रात,—
सोओ जग की संध्या ,
होए नवयुग प्रात !

१९३२]

प्रलय गीत

डम डम डम डमरु स्वर ,
रुद्र नृत्य प्रलयंकर !
कंपित दिग्भू अंबर ,
ध्वस्त अहंमद डंबर !
क्रूर, शूर, खर, दुर्धर ,
अंध तमस पुत्र अमर ,
नित्य सर्व शिव अनुचर
भव भय तम अमर जित्वर !

हम अभाव जनित, अपर ,
हमसे सत् चित् अक्षर ,
नाम रूप गुण अंतर
तम प्रकाश रूपांतर !
झंझा हर जौर्ण पत्र
बोता नव बीज निकर ,
पाता नित सद् विकास ,
होता लय तम कट मर !

उषा वंदना

तुम नील वृंत पर नभ के जग
ऊबे ! गुलाब सी खिल आई !
अलसाई आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई !
लिपटी तुम तरुण अरुण उर से
लज्जा लाली की सी , झाँई !
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाँई !

तुम जग की स्वप्न शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छाई ,
मानस में सोई, भावों की
लो, अखिल कमल कलि मुसकाई !
आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लाई ,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ सी उठ, नव छबि फैलाई !

१९३२]

मंगल गान

मंगल चिर मंगल हो !
मंगलमय सचराचर ,
मंगलमय दिशि पल हो !
तमस मूढ़ हों भास्वर ,
पतित क्षुद्र, उच्च प्रवर ,
मृत्यु भीत, नित्य अमर ,
अग जग चिर उज्ज्वल हो !

शुद्ध बुद्ध हों सब जन ,
भेद मुक्त, निर्भय मन ,
जीवित सब जीवन क्षण ,
स्वर्ग यही भूतल हो !
लुप्त जाति-वर्ण - विवर ,
सुप्त अर्थ - शक्ति भँवर ,
शांत रक्त तृष्ण समर ,
प्रहसित जग शतदल हो !

द्रुत झरो

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत ,
तुम वीत राग, जड़, पुराचीन !!
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन ,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनंत में हो विलीन !

ककाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !
मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भरदे फिर नव युग की प्याली !

फरवरी '३४]

गा, कोकिल !

गा, कोकिल, बरसा पावक कण !

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन !
पावक पग धर आए नूतन ,
हो पल्लवित नवल मानवपन !

गा, कोकिल, भर स्वर में कंपन !

भरें जाति कुल वर्ण पर्ण घन ,
अंध नीड़-से रूढ़ि रीति छन ,
व्यक्ति-राष्ट्र-गत - राग-द्वेष - रण ,
भरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण !

गा, कोकिल, गा,—कर मत चिन्तन !

नवल रुधिर से भर पल्लव तन ,
नवल स्नेह सौरभ से यौवन ;
कर मंजरित नव्य जग जीवन ,
गूँज उठें पी पी मधु सब जन !

गा, कोकिल

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !

रच मानव के हित नूतन मन ,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन ,
स्नेह, सुहृदता हो मानस धन ,
करें मनुज नव जीवन यापन !

गा, कोकिल, संदेश सनातन !

मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन ,
वह न देह का नश्वर रज कण !
देश काल हैं उसे न बंधन ,
मानव का परिचय मानवपन !

कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि क्षण !

अप्रैल '३५]

वे डूब गए

वे डूब गए—सब डूब गए
दुर्दम, उदग्रशिर अद्रिशिखर !
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातिप में
लो, स्वर्ण स्वर्ण अब सब भूधर !
पल में कोमल पड़, पिघले उठे
सुंदर बन, जड़ निर्मम प्रस्तर ,
सब मंत्र मुग्ध हो, जड़ित हुए ,
लहरों-से चित्रित लहरों पर !

मानव जग में गिरि कारा सी
गत युग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बंदी की हैं मानवता को
रच देश जाति की भित्ति अमर !
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास ,
हँस देगा स्वर्णिम, वज्र-लौह
छू मानव आत्मा का प्रकाश !

अप्रैल '३६]

मानव जग

वे चहक रहीं कुंजों में चंचल सुंदर
चिड़ियाँ, उर का सुख बरस रहा स्वर स्वर पर !
पत्रों पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातिप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप कँप !
शत कुसुमों में हँस रहा कुंज उडु उज्ज्वल ,
लगता सारा जग सद्यस्मित ज्यों शतदल !

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य ! किन्तु मानव जग ,
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप, खग ?
जो एक, असीम, अखंड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन सार्थकता !
लगती विश्रि औ' विकृत आज मानव कृति ,
एकत्व शून्य है विश्व मानवी संस्कृति !

मई '३५]

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग सौध मे हो शृंगार मरण का शोभन ,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन ?
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !!
प्रेम अर्चना यही, करे हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरे जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रग, आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
गत युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहांध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

अक्तूबर '३५]

कलरव

बाँसों का झुरमुट—

संध्या का झुटपुट—

हैं चहक रहीं चिड़ियाँ

टी वी टी—टुट् टुट् !

वे ढाल ढाल कर उर अपने

हैं बरसा रही मधुर सपने

श्रम जर्जर विधुर चराचर पर ,

गा गीत स्नेह वेदना सने !

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग ,
भारी है जीवन ! भारी पग !!
आः, गा गा शत शत सहृदय खग ,
संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गंध पवन झल मंद व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन ,
ढीली हैं जिनकी रग रग !

पल्लविनी

—यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला ,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला !

× × × ×
गा सके खगों सा मेरा कवि ,
विश्वी जग की संध्या की छवि !
गा सके खगों सा मेरा कवि ,
फिर हो प्रभात,—फिर आए रवि !

अक्तूबर '३५]

श्राकांक्षा

झर पड़ता जीवन डाली से
मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात ! —
केवल, केवल जग आँगन में
लाने फिर से मधु का प्रभात !

मधु का प्रभात ! — लद लद जातीं
वैभव से जग की डाल डाल ,
कलि कलि, किसलय में जल उठती
सुंदरता की स्वर्गीय ज्वाल !
नव मधु प्रभात ! — गूँजते मधुर
उर उर में नव आशाऽभिलाष ,
सुख सौरभ, जीवन कलरव से
भर जाता सूना महाकाश !

आः मधु प्रभात ! — जग के तम में
भरती चेतना अमर प्रकाश ,
मुरझाए मानस मुकुलों में
पाती नव मानवता विकास !

पल्लविनी

मधु युग प्रभात ! नभ में सस्मित
नाचती धरित्री मुक्त पाश !
रवि शशि केवल साक्षी होते ,
अविराम प्रेम करता प्रकाश !

मैं झरता जीवन डाली से
साल्लाद, शिशिर का शीर्ण पात !
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नव मधु का प्रभात !

अप्रैल '३५]

शुक्र !

द्वाभा के एकाकी प्रेमी ,
नीरव दिगंत के शब्द मौन
रवि के जाते, स्थल पर आते
कहते तुम तम से तमक—'कौन ?
संध्या के सोने के नभ पर
तुम उज्ज्वल हीरक सदृश जड़े
उदयाचल पर दीखते प्रात
अंगूठे के बल हुए खड़े !

अब सूनी दिशि औ' श्रान्त वायु ,
कुम्हलाई पंकज कली सृष्टि
तुम डाल विश्व पर करुण प्रभा
अविराम कर रहे प्रेम वृष्टि
ओ छोटे शशि, चाँदी के उड्ड ,
जब जब फैले तम का विनाश ,
तुम दिव्य दूत से उतर शीघ्र
बरसाओ निज स्वर्गिक प्रकाश

झाया

खोलो, मुख से घूँघट खोलो ,
हे चिर अवगुंठनमयि, बोलो !
क्या तुम केवल चिर अवगुंठन ,
अथवा भीतर जीवन कंपन ?
कल्पना मात्र मृदु देह लता ,
पा ऊर्ध्व ब्रह्म, माया विनता !
है स्पृश्य, स्पर्श का नहीं पता ,
है दृश्य, दृष्टि पर सके बता !

पट पर पट केवल तम अपार ,
पट पर पट खुले, न मिला पार !
सखि, हटा अपरिचय अंधकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार !
मैं हार गया तह छील छील ,
आँखों से प्रिय छबि लील लील ,
मैं हूँ या तुम ? यह कैसा छल !
या हम दोनों, दोनों के बल ?

तुम में कवि का मन गया समा ,
 तुम कवि के मन की हो सुषमा ;
 हम दो भी हैं या नित्य एक ?
 तब कोई किसको सके देख ?

ओ मौन चिरंतन, तम-प्रकाश ,
 चिर अवचनीय, आश्चर्य पाश !
 तुम अतल गर्त, अविगत, अकूल ,
 फैली अनंत में बिना मूल !
 अज्ञेय, गुह्य, अग जग छाई ,
 माया, मोहिनि, संग संग आई !
 तुम कुहकिनि, जग की मोह निशा ,
 मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा !

अप्रैल '३६]

वसंत

चंचल पग दीप शिखा के धर
गृह, मग, वन में आया वसंत !
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
मौन्दर्य शिखाओं मे अनंत !
सौरभ की शीतल ज्वाला मे
फैला उर उर में मधुर दाह
आया वसंत, भर पृथ्वी पर
स्वर्गिक सुंदरता का प्रवाह !

पल्लव पल्लव मे नवल रुधिर ,
पत्रों में मांसल रंग खिला ,
आया नीली पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला !
अधरों की लाली से चुपके
कोमल गुलाब के गाल लजा ,
आया, पंखड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज मजा

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न ,
 अलि के अंतर में प्रणय गान
 लेकर आया, प्रेमी वसंत,—
 आकुल जड़ चेतन स्नेह - प्राण !

काली कोकिल !—सुलगा उर में
 स्वरमयी वेदना का अँगार ,
 आया वसंत, घोषित दिगंत
 करती, भर पावक की पुकार !
 आः, प्रिये ! निखिल ये रूप रंग
 रिल मिल अंतर में स्वर अनंत
 रचते सजीव जो प्रणय मूर्ति
 उसकी छाया, आया वसंत !

एप्रिल, १९३५]

अल्मोड़े का वसंत

विद्रुम औ' मरकत की छाया ,
 सोने चाँदी का सूर्यातिप ;
 हिम परिमल की रेशमी वायु ,
 शत रत्नछाय, खग चित्रित नभ !
 पतझड़ के कृश, पीले तन पर
 पल्लवित तरुण लावण्य लोक ;
 शीतल हरीतिमा की ज्वाला
 फैली दिशि दिशि कोमलाऽलोक !

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
 नव स्वर्ग : सद्य सौन्दर्य सृष्टि ;
 मंजरित प्रकृति, मुकुलित दिगंत ,
 कूजन गुजन की व्योम वृष्टि !
 —लो, चित्रशुभ सी, पंख खोल
 उड़ने को है कुसुमित घाटी,—
 यह है अल्मोड़े का वसंत ,
 खिल पड़ीं निखिल पर्वत पाटी !

मई, १९३५]

विजन घाटी

वह विजन चाँदनी की घाटी
छाई मृदु वन तरु गंध जहाँ ,
नीबू आड़ू के मुकुलों के
मद से मलयानिल लदा वहाँ !

सौरभ इलथ हो जाते तन मन ,
बिछते झर झर मृदु सुमन शयन ,
जिन पर छन, कंपित पत्रों से ,
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ तहाँ !
आ कोकिल का कोमल कूजन ,
उकसाता आकुल उर कंपन ,
यौवन का री वह मधुर स्वर्ग ,
जीवन बाधाएँ वहाँ कहाँ ?

मई '३५]

प्रथम मिलन

मंजरित आस्र वन छाया में
हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार ,
ऊपर हरीतिमा नभ गुंजित ,
नीचे चंद्रातप छना स्फार !
तुम मुग्धा थी, अति भाव प्रवण ,
उकसे थे अँबियों से उरोज ,
चंचल, प्रगल्भ, हँसमुख, उदार ,
मैं सलज,--तुम्हें था रहा खोज !

छनती थी ज्योत्स्ना शशि मुख पर ,
मे करता था मुख सुधा पान,--
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल ,
भर गए गंध से मुग्ध प्राण !
तुमने अधरों पर धरे अधर ,
मैंने कोमल वपु, भरा गोद ,
था आत्म समर्पण सरल, मधुर ,
मिल गए सहज मारुतामोद !

प्रथम मिलन

मंजरित आम्न द्रुम के नीचे
हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार ,
मधु के कर में था प्रणय बाण ,
विक के उर में, पावक पुकार !

मई '३५]

मधु स्मृति

उड़ता है जब प्राण !
तुम्हारी सारी का सित छोर ,
सौ वसंत, सौ मलय
हृदय, को करते गंध विभोर !

उड़ता उर से कभी
तुम्हारी सारी का जब छोर !

ग्रीवा मोड़, कभी विलोकती
जब तुम वंकिम कोर ,
खिल खिल पड़ते श्वेत कमल ,
नाचतीं विलोल हिलोर !

ग्रीवा मोड़, हंसिनी सी ,
देखती फेर जब कोर !

जब जब प्राण ! तुम्हारी मधु स्मृति
देती मुझको बोर ,

खद्योत

अँधियाली घाटी में सहसा
हरित स्फुलिङ्ग सदृश फूटा वह !
वह उड़ता दीपक निशीथ का,—
तारा सा आकर टूटा वह !
जीवन के घन अंधकार में
मानव आत्मा का प्रकाश कण
जग सहसा, ज्योतित कर देता
मानस के चिर गुह्य कुंज वन !

मई, १९३५]

मानव !

सुंदर हैं विहग, सुमन सुंदर
मानव ! तुम सबसे सुंदरतम
निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अंग
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति
छाया प्रकाश के रूप रंग !

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार ,
आँखें हैं दो लावण्य लोक ,
स्वर में निसर्ग संगीत सार !
पृथु उर, उरोज, ज्यों सर, सरोज ,
दृढ़ बाहु प्रलंब प्रेम बंधन ,
पीनोरु स्कंध जीवन तरु के ,
कर पद, अंगुलि, नखशिख शोभन !

पल्लविनी

यौवन की मांसल, स्वस्थ गंध ,
नव युगों का जीवनोत्सर्ग !
आल्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल ,
आँ प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग !
आशाऽभिलाष, उच्चाकांक्षा ,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय ,
विश्वास, असद् सद् का विवेक ,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य प्रेम अक्षय !

मानसी भूतियाँ ये अमंद
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,—
जो स्तंभ सभ्यता के पार्थिव ,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव पूर्ति !
मानव का मानव पर प्रत्यय ,
परिचय, मानवता का विकास ,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण ,
सब एक, एक सब में प्रकाश !

मानव

प्रभु का अनंत वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव ?

एप्रिल, '३५]

सृष्टि

मिट्टी का गहरा अंधकार ,
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना ,
कोदों सरसों से क्षुद्र चीज !
उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल, पात औ' स्कंध, मूल ,
संसृति की गहरी हरीतिमा
बहु रूप रंग फल और फूल !

वह है मुट्ठी में बंद किए
वट के पादप का महाकार
संसार एक, आश्चर्य एक
वह एक बूंद, सागर अपार !
बंदी उसमें जीवन - अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बंधन
पाने को है निज सत्व,-मुक्ति ,
जड़ निद्रा से जग, बन चेतन !

आः, भेद न सका सृजन रहस्य
 कोई भी, वह जो क्षुद्र पोत
 उसमें अनंत का है निवास ,
 वह जग-जीवन से ओतप्रोत !
 मिट्टी का गहरा अंधकार
 सोया है उसमें एक बीज,—
 उसका प्रकाश उसके भीतर ,
 वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज ?

मई '३५]

बापू के प्रति

तुम मांस हीन, तुम रक्त हीन ,
हे अस्थि शेष ! तुम अस्थि हीन ,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल ,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की ,
जिसमें असार भव-शून्य लीन ;
आधार अमर, होगी जिसपर
भावी की संस्कृति समासीन ?

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि,—
निर्मित जिनसे नवयुग का तन ,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व त्याग
है विश्व भोग का वर साधन !
इस भस्म काम तन की रज से
जग पूर्ण काम नव जग जीवन
बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने बानों से मानवपन !

बापू के प्रति

सदियों का दैन्य तमिस्र तूम ,
धुन तुमने, कात प्रकाश सूत ,
हे नग्न ! नग्न पशुता ढँकदी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत !
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत ,
छू अमृत स्पर्श से हे अछूत !
तुमने पावन कर, मुक्त किए
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत !

सुख भोग खोजने आते सब ,
आए तुम करने सत्य खोज ,
जग की मिट्टी के पुतले जन ,
तुम आत्मा के, मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा, नम्र ओज ,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

पल्लविनी

पशुबल की कारा से जग, को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम युक्ति,
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार परिणीत उक्ति
विश्वानुरक्त हे अनासक्त !
सर्वस्व त्याग को बना भुक्ति !

सहयोग सिखा शासित जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल प्रहार;
बहु भेद विग्रहों में खोई
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को, कह प्रकाश,
औ' अंधकार को अंधकार !

बापू के प्रति

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग युग का विषय जनित विषाद ,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद !
रँग रँग खदर के सूत्रों में
नव जीवन आशा स्पृहा, ह्लाद ,
मानवी कला के सूत्रधार !
हर दिया यंत्र कौशल प्रवाद !

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान ,
यंत्राभिभूत युग में करने
मानव जीवन का परित्राण;
बहु छाया बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान ,
फिर रक्त मांस प्रतिमाओं में
फूँकने सत्य से अमर प्राण !

पल्लविनी

संसार छोड़ कर ग्रहण किया
नर जीवन का परमार्थ सार ,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव नियमों का करने प्रचार;
हो सार्वजनिकता जयी, अजित !
तुमने निजत्व निज दिया हार ,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार !

मंगल-शशि-लोलुप-मानव थे
विस्मित ब्रह्मांड परिधि विलोक ,
तुम केन्द्र खोजने आए तब
सब में व्यापक, गत राग शोक;
पशु पक्षी पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम - वाम जन .. क्रांति रोक ,
जीवन इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किए लोक !

बापू के प्रति

था व्याप्त दिशावधि ध्वांत : भ्रांत ,
इतिहास विश्व उद्भव प्रमाण ,
बहु हेतु, बुद्धि, जड़ वस्तु वाद
मानव संस्कृति के बने प्राण ;
थे राष्ट्र, अर्थ, जन, साम्य वाद
छल सभ्य जगत के शिष्ट मान ,
भू पर रहते थे मनुज नहीं ,
बहु रूढ़ि रीति प्रेतों समान—

तुम विश्व मंच पर हुए उदित ।
बन जग जीवन के सूत्रधार ,
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोद्धार ;
आत्मा को विषयाधार बना ,
दिशि पल के दृश्यों को सँवार ,
गा गा—एकोहं बहु स्याम ,
हर लिए भेद, भव भीति भार !

पल्लविनी

एकता इष्ट निर्देश किया ,
जग खोज रहा था जब समता ,
अंतर शासन चिर राम राज्य ,
औ' बाह्य, आत्महन अक्षमता ;
हों कर्म निरत जन, राग विरत ,
रति विरति व्यतिक्रम भ्रम ममता ,
प्रतिक्रिया क्रिया साधन अवयव ,
है सत्य सिद्ध, गति यति क्षमता !

ये राज्य प्रजा, जन, साम्य तंत्र
शासन चालन के कृतक यान ,
मानस, मानुषी, विकास शास्त्र
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान ;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन - उपकरण - चयन - प्रधान ,
मथ सूक्ष्म स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता से महान !

साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
 मानवता पशु बलाक्रांत ,
 शृंखला दासता, प्रहरी बहु
 निर्मम शासन-पद शक्ति भ्रांत;
 कारा गृह में दे दिव्य जन्म
 मानव आत्मा को मुक्त, कांत ,
 जन शोषण की बढ़ती यमुना
 तुमने की नत-पद-प्रणत शांत !

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
 बहु धर्म-जाति-गत-रूप-नाम ,
 बंदी जग जीवन, भू विभक्त ,
 विज्ञान मूढ़ जन प्रकृति-काम,
 आए तुम मुक्त पुरुष, कहने—
 मिथ्या जड़ बंधन, सत्य राम ,
 नानृतं जयति सत्यं, मा भै ,
 जय ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम !